जीवनस्मृति

कविका आत्म-चित्र

अनुवादक
धन्यकुमार जैन

हिन्दी-ग्रन्थागार
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

'जीवन-स्मृति' के कुछ अध्याय

इस पुस्तकमें कोष्ठक और पाद-टिप्पणमें जो-कुछ भी लिखा गया है वह कवि द्वारा नहीं लिखा गया किन्तु अनुवादक द्वारा सगृहीत तथ्य है

जीवन-स्मृति

स्मृतिके पटपर जीवनका चित्र कौन उतार जाता है पता नहीं। पर, कोई भी उतारे, उतारता वह चित्र ही है। यानी, जो-कुछ हो रहा है उसकी हूबहू नकल रखनेके लिए वह कूंची हाथमें लेकर नहीं बैठा। वह अपनी अभिरुचिके अनुसार न-जाने क्या-क्या छोड़ देता है, कोई ठीक नहीं। पहलेकी चीजको पीछे और पीछेकी चीजको पहले सजानेमें भी उसे कोई हिचकिचाहट नहीं। असलमें, उसका काम ही है तसवीर खींचना, इतिहास लिखना नहीं।

इस तरह, जीवनके बाहरकी तरफ घटनाओंकी धारा बह रही है; और उसके साथ-साथ, भीतरकी तरफ तसवीर खिंचती जा रही है। दोनोंमें मेल जरूर है, पर दोनों ठीक एक चीज नहीं।

हमें अपने भीतरके इस चित्रपटकी ओर अच्छी तरह देखनेका मौका नहीं मिलता। क्षण-क्षणमें उसके किसी-किसी अंशपर हम जरा नजर डाल लेते हैं, किन्तु उसका अधिकांश अन्धकार और अगोचरमें ही पड़ा रह जाता है। जो चित्रकार लगातार चित्र उतार रहा है वह क्यों उतार रहा है, और उसका उतारना जब खतम होगा तब वे चित्र किस चित्रशालामें लटकाये जायेंगे, यह कौन कह सकता है!

कुछ साल पहले एक दिन किसीने मुझसे अपनी जीवन-घटनाओंके विषयमें पूछा था, और तब मैं अपने उस तसवीरके घरमें खबर लेने गया था। सोचा था कि जीवन-वृत्तान्तके दो-चार मामूली उपकरण लेकर ही लौट आऊंगा; किन्तु दरवाजा खोलते ही देखा कि जीवनकी स्मृति 'जीवनका इतिहास' नहीं है, वह तो किसी-एक अदृश्य चित्रकारकी अपने हाथकी रचना है। उसमें नाना स्थानोंमें नाना रंग हैं, वह बाहरका प्रतिबिम्ब नहीं है,—वे रंग उसके अपने भण्डारके हैं, उन रंगोंको उसे अपने रसमें घोलना पड़ा है,—इसलिए, पटपर जो छाप पड़ी है वह अदालतमें गवाही देनेके काम नहीं आ सकती।

इस स्मृतिके भण्डारमें अत्यन्त यथार्थरूपमें इतिहास संग्रहकी कोशिश व्यर्थ हो सकती है ; किन्तु तसवीर देखनेका एक नशा होता है, और उस नशेने मुझे घेर लिया। पथिक जब पथपर चलता है या पान्थशालामें ठहरता है, तब वह पथ या पान्थशाला उसके लिए तसवीर नहीं होती, तब ये दोनों चीजें उसके लिए बहुत ही जरूरी और अत्यन्त प्रत्यक्ष होती हैं। जब जरूरत मिट जाती है, जब पथिक उन्हें पार कर आता है तभी वे तसवीर बनकर दिखाई देती हैं। जीवनके प्रभातमें जिन शहरों और मैदानोंमेंसे, जिन नदी और पहाड़ोंपरसे गुजरना पड़ा है, दोपहरकी विश्रामशालामें घुसनेके पहले जब उनकी तरफ मुड़कर देखा जाता है, तब आसन्न सन्ध्याके प्रकाशमें पीछेका वह दृश्य तसवीर होकर दिखाई देता है। पीछे मुड़कर उस तसवीरको देखनेका जब मौका मिला, जब उधर एक बार गौरसे देखा, तो उसीमें मन तल्लीन हो गया।

मनमें जो उत्सुकता पैदा हुई वह केवल अपने अतीत जीवनके प्रति स्वाभाविक ममताके कारण। यह ठीक है कि ममता हुए बगैर रह नहीं सकती, किन्तु तसवीर होनेसे तसवीरका भी एक आकर्षण है इस बातको हम अस्वीकार नहीं कर सकते। 'उत्तर-रामचरित' के प्रथम अंकमें सीताके चित्त-विनोदनके लिए लक्ष्मणने जो चित्र उनके सामने रखे थे उनके साथ सीताके जीवनका योग था इसीलिए वे मनोहर हों, यह सम्पूर्ण सत्य नहीं।

मेरी इस 'जीवन-स्मृति'में ऐसा कुछ भी नहीं जो चिरस्मरणीय बनाकर रखने लायक हो। किन्तु विषयकी मर्यादापर ही साहित्य निर्भर करता हो, ऐसी बात नहीं, जिसे स्वयं अच्छी तरह अनुभव किया है उसे दूसरोंके लिए अनुभवगम्य बना दिया जाय, तो आदमी उसकी जरूर कदर करता है। अपनी स्मृतिमें जो चित्रके रूपमें खिल उठा है उसे शब्दोंमें खिला दिया जाय तो वह साहित्यमें स्थान पाने लायक बन जाता है।

मेरे ये स्मृति-चित्र भी वैसे ही साहित्यकी सामग्री हैं। इसे 'जीवन-वृत्तान्त लिखनेकी कोशिश' समझना गलत होगा। उस हिसाबसे देखा जाय तो यह लिखना अत्यन्त असम्पूर्ण और अनावश्यक ही साबित होगा।

शिक्षारम्भ

हम तीन बालक[1] एकसाथ पल रहे थे। मेरे और-दो साथी मुझसे दो-दो साल बड़े थे। उन्होंने जब 'गुरु महाशय'से पढ़ना शुरू किया तो मेरी भी उनके साथ शिक्षा शुरू हो गई; किन्तु उस बातकी मुझे याद भी नहीं।

सिर्फ इतना याद है, 'पानी पड़ता है', 'पत्ता हिलता है।' तब मैं 'कर' 'खल' आदिके हिज्जेके तूफानसे निकलकर किनारेसे लगा ही था। उस दिन पढ़ रहा था, 'पानी पड़ता है, पत्ता हिलता है।'[2] मेरे जीवनमें यही आदिकविकी प्रथम कविता है। उस दिनके आनन्दकी आज भी जब याद आती है तो समझ जाता हूं कि कवितामें 'तुकका मेल' इतना जरूरी क्यों है। मेल होनेसे ही बात खतम होनेपर भी खतम नहीं होती,—कविताका वक्तव्य निवट जाता है किन्तु उसकी झंकार नहीं निवटती,—तुकके मेलको लेकर कान और मन आपसमें खेलते ही रहते हैं। इस तरह, घूम-फिरकर उस दिन मेरे सम्पूर्ण चैतन्यमें पानी पड़ने और पत्ते हिलने लगे।

उस बचपनकी और-एक बात मनमें बँधी पड़ी है। हमारे यहाँ एक बहुत पुराने खजाञ्ची थे, कैलास मुखर्जी। वे हमारे घरके-से थे। और, आदमी बड़े रसिक थे। सबसे उनका हँसी-मजाक चलता था। घरमें नवीन समागत जामाताओंको वे अपने व्यंग-कौतुकोंसे संकटापन्न कर दिया करते थे। 'मरनेके बाद भी उनकी कौतुक-वृत्ति नहीं घटी'—ऐसी जनश्रुति है। किसी समय मेरे गुरुजन प्लैञ्चेटके जरिये परलोकके साथ सम्पर्क स्थापित करनेकी कोशिशमें थे। एक दिन देखा गया कि उनके प्लैञ्चेटकी पेन्सिलकी रेखामें कैलास मुखर्जीका नाम आ गया। उनसे पूछा गया, "तुम जहां हो वहांका क्या हाल-चाल है, बताओ तो?" उत्तर मिला, "जो बात मैं मरके जान सका हूं, सो आपलोग बिना मरे ही फोकटमें जानना चाहते हैं? सो नहीं होनेका!"

---

१ कविके बड़े भाई सोमेन्द्रनाथ, भानजे सत्यप्रसाद और कवि।

२ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कृत 'वर्ण-परिचय' प्रथम भागका एक पाठ— "जल पड़े, पाता नड़े" इत्यादि।

यही कैलास मुखर्जी, मेरे बचपनमें, बड़ी जल्दी-जल्दी लम्बी एक तुकबन्दी सुनाकर मेरा मनोरंजन किया करता था। उस ग्राम्य-कविताका प्रधान नायक होता था खुद मैं ; और उसमें एक भावी नायिकाके निःसंशय समागमकी आशा अत्यन्त उज्ज्वल रूपमें वर्णित होती थी। उसमें जो भुवन-मोहिनी वधू भवितव्यताकी गोदको आलोकित किये-हुए विराज रही थी, कविता सुनते-सुनते उसके चित्रमें मन अत्यन्त उत्सुक हो उठता। आपादमस्तक उसके जिन बहुमूल्य अलंकारोंकी सूची प्राप्त हुई थी और मिलनोत्सवके अभूतपूर्व समारोहका जैसा वर्णन सुननेमें आया था, उससे अनेक प्रवीण-वयस्क सुविवेचक पुरुषोंका मन भी चंचल हो सकता था,–किन्तु बालकका मन जो उन्मत्त हो उठता था और उसकी आंखोंके आगे जो नाना वर्णोंसे विचित्रित आश्चर्यजनक सुखच्छवि दिखाई देने लगती थी, उसका मूल-कारण था जल्दी-जल्दी कहे-गये अनर्गल शब्दोंकी छटा और छन्दका हिंडोलना। बचपनकी साहित्य-रसोपभोगकी ये दो स्मृतियाँ अब भी मेरे मनमें जाग रही हैं। और-एक स्मृति है "वृष्टि पड़े टापुर-टुपुर नदेय एलो बान, शिव-ठाकुरेर बिये होलो तीन कन्या दान"[1] की। मानो वह बचपनका 'मेघदूत' हो।

उसके बाद जो बात याद आती है वह है स्कूल जानेकी सूचना। एक दिन देखा कि मेरे भाई साहब और मुझसे वय ज्येष्ठ भानजे सत्यप्रसाद दोनो स्कूल चल दिये, किन्तु मैं स्कूल जानेके काबिल नहीं समझा गया। ऊंचे स्वरमें रोनेके सिवा योग्यता-प्रचारका और कोई उपाय मेरे हाथमें नहीं था। इसके पहले मैं किसी दिन गाड़ीपर भी नहीं चढ़ा था, और न घरसे बाहर ही निकला था, इसीसे, सत्यप्रसाद जब स्कूल-पथके भ्रमण-वृत्तान्तको अतिशयोक्ति-अलंकारके सहारे प्रतिदिन अत्युज्ज्वल रूप दे-देकर मुझे उत्सुक-उत्तेजित करने लगा, तो मेरा मन घरसे बाहर निकलनेके लिए फड़फड़ा उठा। जो हमारे शिक्षक थे उन्होंने मेरे मोहका विनाश करनेके लिए प्रबल चपेटाघातके साथ एक सारगर्भित वाक्य सुनाया

---

१ 'मेहा बरसे झमझम, नदियाँ आई बाढ़।' बंगालकी एक सुप्रसिद्ध ग्राम्य कविता, जिसमें शिव ठाकुरके ब्याह आदिका, खासकर बच्चोंके लिए, बड़ा ही मनोरंजक वर्णन है ; और तुकबन्दी भी बड़े मजेकी है।

था, "अभी तो स्कूल जानेके लिए रो रहे हो, किसी दिन न-जानेके लिए इससे बहुत ज्यादा रोना पड़ेगा !" उन शिक्षक महोदयका नाम-धाम आकृति-प्रकृति मुझे कुछ भी याद नहीं ; किन्तु उस दिनका वह गुरु-वाक्य और गुरुतर चपेटाघात आज भी मेरे मानस-पटपर स्पष्ट जाग्रत है। इतनी बड़ी अव्यर्थ भविष्यवाणी जीवनमें और किसी दिन भी कर्णगोचर नहीं हुई।

रोनेके जोरसे ऑरिएण्टल सेमिनरी (स्कूल) में असमयमें भरती हो गया। वहाँ क्या शिक्षा पाई, सो याद नहीं, पर वहाँकी शासनप्रणालीकी बात मुझे याद है। पाठ न सुना सकनेपर विद्यार्थीको वहाँ बेञ्चपर खड़ा करके उसके दोनों हाथ पसारकर उनपर कक्षाकी बहुत-सी सिलेटें इकट्ठी करके रख दी जाती थीं। इस तरह धारणा-शक्तिका अभ्यास बाहरसे भीतर सञ्चारित हो सकता है या नहीं, यह बात मनोवैज्ञानिकोंका आलोच्य विषय है।

इस प्रकार अत्यन्त बचपन ही में मेरी पढ़ाई शुरू हो गई। नौकरोंके महकमेमें जिन किताबोंका प्रचलन था उन्हींके आधारपर मेरी साहित्य-चर्चाका सूत्रपात हुआ। उसमें चाणक्य-श्लोकोंका बंगला अनुवाद और कृत्तिवासकी 'रामायण' ही प्रधान थी। उस 'रामायण' पढ़े जानेका एक दिनका चित्र मेरे मनमें स्पष्ट जाग्रत है।

उस दिन बादल छाये हुए थे ; बाहरी मकानमें सड़कके किनारेवाले लम्बे बरंडेमें मैं खेल रहा था। याद नहीं किस कारणसे, सत्यप्रसाद मुझे डरानेके लिए सहसा 'पुलिस' 'पुलिस' पुकारने लगा। पुलिसके कर्तव्यके सम्बन्धमें मेरी एक मोटी-सी धारणा थी। मैं जानता था कि किसी आदमीको अपराधीके रूपमें उसके हाथ सुपुर्द करते ही, मगर जैसे अपने विकराल दाँतोंमें शिकारको फँसाकर गहरे पानीमें अदृश्य हो जाता है ठीक वैसे ही, उस अभागेको पकड़कर अतलस्पर्श थानेमें ले जाना ही पुलिस-कर्मचारीका स्वाभाविक धर्म है। ऐसी निर्मम शासन-विधिसे निरपराध बालकका छुटकारा कहाँ है इस बातका कोई किनारा न पाकर मैं सीधा अन्तःपुरकी तरफ भाग खड़ा हुआ, और इस अन्धे भयने कि पुलिस मेरा पीछा कर रही है, मेरे सम्पूर्ण पृष्ठभागको विह्वल कर दिया। मैंने माँसे जाकर अपनी आसन्न विपत्तिकी खबर दी ; किन्तु उनमें कोई विशेष उत्कंठाका

लक्षण नहीं दिखाई दिया। पर मैंने बाहर जाना निरापद नहीं समझा। नानीजी, मेरी मासी किसी-एक नातेसे चाची जो कृत्तिवास-कृत 'रामायण' पढ़ा करती थीं उस कागजकी जिल्दवाली कोने-फटी मैली पुस्तकको लेकर मैं माके कमरेके दरवाजेके पास पढ़ने बैठ गया। सामने अन्तःपुरके आँगनको घेरे-हुए चौकोन बरंडा था, उस बरंडेमें मेघाच्छन्न आकाशसे अपराह्नका म्लान प्रकाश आकर पड़ रहा था। 'रामायण' के किसी-एक करुण वर्णनसे मेरी आँखोंसे आँसू गिरते देख नानीजी मेरे हाथसे जबरदस्ती पुस्तक छीन ले गईं।

घर और बाहर

हमारे बचपनमें भोग-विलासका आयोजन नहींके बराबर था। कुल-जमा तबकी जीवनयात्रा आजसे बहुत ज्यादा सीधी-सादी थी। उस जमानेके भद्र-समाजके सम्मान-रक्षाके उपकरण देख लें तो आजका जमाना मारे शरमके उससे सब तरहका सम्बन्ध ही अस्वीकार करना चाहेगा। यह तो उस जमानेकी विशेषता थी, उसपर खासकर हमारे घरमें लड़कोंपर बहुत ज्यादा दृष्टि रखनेका उत्पात बिलकुल ही नहीं था। असलमें लाड़-प्यार करनेका व्यापार अभिभावकोंके विनोदनके लिए है, बच्चोंके लिए ऐसी और कोई बला ही नहीं।

हमलोग थे नौकरोंके ही शासन-अधीन। अपने कर्तव्यको सरल कर लेनेके लिए उनलोगोंने हमारा हिलना-डुलना एक प्रकारसे बन्द ही कर दिया था। उधर बन्धन कितना ही कठिन क्यों न हो, अनादर या अल्लाड़ एक जबरदस्त स्वाधीनता है और उस स्वाधीनतासे हमारे मन मुक्त थे। खूब खिला-पिला कर और पहना-उढ़ाकर हमारे चित्तको चारों तरफसे कसके बांधा नहीं गया था।

हमारे आहारमें शौकीनीकी गन्ध भी नहीं थी। हमारे कपड़-लत्ते भी इतने ज्यादा साधारण थे कि आजकलके लड़कोंके सामने उसकी फेहरिस्त रखनेमें सम्मान-हानिकी आशंका होती है। दस सालकी उमरके पहले कभी भी किसी दिन किसी कारणसे मोजे नहीं पहने। जाड़ोंके दिनोंमें एक सफेद कुरता-कमीजपर

और-एक सफेद कोट काफी था। इसके लिए कभी भी भाग्यको दोष नहीं दिया। सिर्फ, हमारे घरका दर्जी नियामत खलीफा जब लापरवाहीसे हमारे कुरता-कमीज-कोटोंमें जेब लगाना अनावश्यक समझता तो खेद हो जाता ; कारण, ऐसा लड़का किसी गरीबसे गरीब घर भी जन्म नहीं लेता जिसके पास जेबमें रखने लायक स्थावर-अस्थावर कुछ भी सम्पत्ति न हो : विधाताकी कृपासे बच्चोंके ऐश्वर्यके विषयमें धनी और निर्धनके घरमें ज्यादा-कुछ तारतम्य नहीं देखनेमें आता। पाँवोंमें पहननेके लिए हमारे पास एक-एक जोड़ी चट्टियाँ (स्लिपर) होती थीं, किन्तु जहाँ पाँव रहते थे वहाँ वे शायद ही कभी रहती हों। हर कदमपर हम उन्हें आगे-आगे फेंकते-हुए चलते थे ,— और इससे यातायातके समय पैर चलनेके मुकाबिले जूतियोंका चलना इतना ज्यादा होता था कि पादुका-सृष्टिका उद्देश्य ही कदम-कदमपर व्यर्थ होता रहता था।

हमसे जो बड़े थे उनकी गति-विधि, वेश-भूषा, आहार-विहार, आराम-आमोद बात-चीत सभी कुछ हमसे बहुत दूर था। उसका आभास तो मिलता किन्तु 'पहुँच' नहीं मिलती। आजकलके लड़कोंने गुरुजनोंको 'लघु' कर लिया है, कहीं भी उन्हें किसी तरहकी बाधाका सामना नहीं करना पड़ता, बगैर माँगे ही उन्हें सब-कुछ मिल जाता है। हमें इतनी आसानीसे कुछ भी नहीं मिला। कितनी ही तुच्छ चीजें भी हमारे लिए दुर्लभ थीं , और, इस आशामें कि बड़े होनेपर किसी समय मिलेंगी, हम उन्हें दूर-भविष्यके हाथ समर्पण कर बैठे थे। उसका फल यह हुआ था कि तब मामूलीसे मामूली जो-कुछ भी मिलता उसका पूरा रस वसूल कर लेते थे यानी उसके छिलकेसे लेकर बीज तक कुछ भी बरबाद नहीं जाता था। आजकलके सम्पन्न घरोंके लड़कोंको देखता हूँ कि उन्हें आसानीसे सब-कुछ मिल जानेसे वे उसके बारह-आने हिस्सेको आधे दाँत गड़ाकर ही फेंक देते हैं , उनकी दुनियाका अधिकांश फजूलखर्चीमें बरबाद हो जाता है।

बाहरवाले मकानमें दूसरी मंजिलपर दक्षिण-पूर्व कोनेके कमरेमें नौकरोंके बीच हमारे दिन कटते थे।

हमारा एक नौकर था, श्याम। श्यामवर्ण दोहरे बदनका लड़का था, लम्बे

लम्बे बाल थे उसके। सुलना जिलेका रहनेवाला था। मुझे वह कमरेके एक निर्दिष्ट स्थानपर बिठाकर मेरे चारों तरफ खड़ियासे लकीर खींच देता था; और गम्भीर चेहरा बनाकर तर्जनी उठाकर कह जाता था, लकीरके बाहर निकले नहीं कि आफत आई! आफत आधिभौतिक होगी या आधिदैविक, सो स्पष्ट कुछ समझमें नहीं आता था; किन्तु मनमें एक प्रकारकी भारी आशंका छा जाती थी। लकीर पार करनेसे सीताकी क्या दशा हुई थी, सो 'रामायण' में पढ़ चुका था; इसलिए लकीरको मैं अविश्वासीकी तरह हँसीमें उड़ा नहीं सकता था।

खिड़कीके नीचे ही एक पक्के-घाटवाला तालाब था। उसके पूरबकी तरफ चहारदीवारीसे सटा-हुआ एक बड़ा-भारी चीनी वटवृक्ष था, और दक्षिणकी तरफ नारियलके पेड़ोंकी कतार। लकीर-बन्धनमें बन्दी मैं खिड़कीकी झिलमिली खोलकर प्रायः दिन-भर उस तालाबको 'तसवीरोंवाली किताब' की भाँति देखता हुआ बिता देता था। सवेरेसे देखता कि अड़ोस-पड़ोसके लोग तालाबमें नहाने आ रहे हैं और नहाकर जा रहे हैं। उनमेंसे कौन कब आयेगा, मुझे मालूम था। प्रत्येकके स्नानकी विशेषतासे मैं परिचित था। कोई तो दोनों कानोंमें उंगली डालकर जल्दी-जल्दी कई डुबकियाँ लगाके चल देता कोई डुबकी न लगाकर बार-बार अंगोछेसे पानी भरके सिरपर डालता रहता, कोई पानीके ऊपरकी मलिनतासे बचनेके लिए दोनों हाथोंसे बार-बार पानी हटाकर चटसे किसी-एक समय डुबकी लगा लेता, कोई ऊपरकी सीढ़ियोंसे ही बिना भूमिकाके झप-से पानीमें कूद पड़ता, कोई पानीमें उतरते-उतरते एक साँसमें कई श्लोक पढ़ डालता; कोई व्यस्त होता, किसी कदर चटसे नहाकर घर जानेको उत्सुक रहता; किसीके व्यस्तताका लेशमात्र नहीं, धीरे-सुस्ते नहाकर, देह अंगोछकर कपड़े बदलकर, दो-तीन बार धोतीकी लाँग झाड़कर, बगीचेसे कुछ फूल तोड़कर, मृदु-मन्द झूमती-हुई गतिसे स्नानसे स्निग्ध शरीरके आरामको हवामें फैलाता हुआ घरकी तरफ चला जाता। इसी तरह दोपहर हो जाता, एक बज जाता। क्रमशः तालाबका घाट सूना हो जाता। सिर्फ हंस और बनके दिन-भर डुबकियाँ लगाकर छोटे-छोटे घोंघे खाती रहतीं और चोंच चला-चलाकर व्यस्तताके साथ पीठके पर साफ करती रहतीं।

तालाब सूना हो जानेके बाद वटवृक्षका नीचेका हिस्सा मेरे सम्पूर्ण मनपर अधिकार किये रहता। उसके तनेके चारों तरफ बहुत-सी जटाएँ लटककर अँधेरा किये रहतीं। उस इन्द्रजालमें, विश्वके उस एक अस्पष्ट कोनेमें, भ्रमसे मानो विश्वके नियम उलझ-से गये हों। दैवसे वहाँ मानो स्वप्न-युगका कोई असम्भव राज्य विधाताकी निगाहोंसे बचकर अब भी दिनके उजालेमें रह गया हो। मनकी आँखोंसे वहाँ मैं किन-किनको देखा करता था और उनके क्रियाकलाप किस ढंगके थे, आज उसका स्पष्ट भाषामें वर्णन करना असम्भव है। उस वटवृक्ष को ही लक्ष्य करके एक दिन मैंने लिखा था—

> "पेड़ोंके सरताज बने तुम
>
> सिरपर लादे जटा खड़े हो,
>
> आता है मैं याद कभी क्या,
>
> मैं हूँ छोटा, तुम्हीं बड़े हो।"

किन्तु हाय, वह वटवृक्ष अब कहाँ है! जो सरोवर अधिष्ठाता-देवताका दर्पण था वह भी अब नहीं है, और जो नहाने आया करते थे उनमेंसे भी बहुतोंने उस अन्तर्हित वटवृक्षकी छायाका अनुसरण किया है। और, वह बालक आज बड़ा होकर अपने चारों तरफ नानाप्रकारकी जटाएँ लटकाये-हुए विपुल जटिलतासे भले-बुरे दिनोंकी धूप और छायाएँ गिन रहा है।

घरसे बाहर जाना हमलोगोंके लिए निषिद्ध था, यहाँ तक कि घरके भीतर भी हम सर्वत्र, जहाँ जी चाहे, जा-आ नहीं सकते थे। इसलिए विश्व-प्रकृतिको हमें ओटमेंसे ही देखना पड़ता था। 'बाहर' नामका एक अनन्त-प्रसारित पदार्थ था जो मेरे लिए अतीत था, किन्तु उसका रूप-रस-शब्द-गन्ध दरवाजे-जंगलोंके नाना छिद्रोंमेंसे घुसकर इधर-उधरसे मुझे अचानक छू जाता था। मानो वह सीखचोंके व्यवधानसे नाना इशारोंसे मुझसे खेलनेकी कोशिश करता रहता। वह था मुक्त, मैं था बन्द,—मिलनेका कोई उपाय नहीं था, इसीलिए प्रणयका आकर्षण था प्रबल। आज खड़ियाकी वह लकीर मिट गई है, किन्तु लीक नहीं मिटी। दूर अब भी दूर है, बाहर अब भी बाहर ही है। बड़े होनेपर जो कविता लिखी थी वह अब भी याद आती है:—

घरकी चिड़िया थी पिंजड़ेमें, वनकी चिड़िया वनमें,
मिलीं एक दिन अकस्मात् वे, थी कुछ विधिके मनमें।
वनकी चिड़िया बोली तब यों, "सुन री पिंजड़ेवाली,
उड़ चल वनको मेरे संग तू, कर दे पिंजड़ा खाली।"
बोली पिंजड़ेकी चिड़िया तब, "सुन री चिड़िया वनकी,
तू भी आ, बस जा पिंजड़ेमें, बात करें दो मनकी।"
"मैं क्यों फँसूँ भला बन्धनमें!"—वनकी चिड़िया बोली।
हा! उदास पिंजड़ेकी चिड़िया मनकी मनमें रो ली,—
"छोड़ सकूँ मैं सोनेका घर! भटकूँ जाकर वनमें!"
घरकी चिड़िया थी पिंजड़ेमें, वनकी चिड़िया वनमें।

हमारे भीतरवाले मकानकी छतकी दीवार मेरे मस्तकसे ऊँची थी। जब मैं कुछ बड़ा होने लगा और नौकरोंका शासन कुछ शिथिल हो चला, जब घरमें नई बहूओंका समागम शुरू हुआ और अवकाशके साथियोंके रूपमें उनकी तरफसे मुझे प्रश्रय मिलने लगा तब किसी-किसी दिन मैं दोपहरको उस छतपर उपस्थित होता था। उस समय जब कि घरवाले सब खा-पी चुकते थे, घरके कामकाजसे सबको छुट्टी मिल चुकती थी, अन्तःपुर विश्राममें मग्न रहता था, स्नानसे भीगी हुई साड़ियाँ छतकी कार्निसपर हवा खाया करती थीं और आँगनमें पड़ी जूठनपर कौओंकी सभा बैठ जाती थी, तब उस निर्जन अवकाशमें प्राचीरके छिद्रोंमेंसे पिंजड़ेकी चिड़ियाका वनकी चिड़ियाके साथ चोंचके जरिये परिचय चालू हो जाया करता था। देर तक खड़ा-खड़ा मैं देखा करता था—अपने मकानकी चहारदीवारीके भीतरवाला बगीचा और उसके चारों तरफ खड़े-हुए नारियलके पेड़, उन्हींकी संधमेंसे दिखाई देता था 'सिंघी-बगान' मुहल्लेका एक तालाब, और उस तालाबके किनारे जो तारा ग्वालिन हमारे घर दूध देने आती थी उसका गाय-घर। उससे भी दूर दिखाई देता था पेड़ोंकी चोटियोंके साथ मिली-हुई कलकत्ता शहरकी नाना आकार और नाना आयतनोंकी दीवारों-सुदा ऊँची-नीची छतें, जो दोपहरकी धूपकी प्रखर शुभ्रताके साथ पूर्व-दिगन्तकी पाण्डुवर्ण नीलिमामें समाई जा रही थीं। उन अति-दूरवर्ती मकानोंकी छतोंपर जीनोंकी गुमटियाँ सिर उठाये

खड़ी रहती ; मालूम होता, मानो वे निश्चल तर्जनी उठाये आँखें मिचकाकर अपने भीतरका रहस्य इशारेसे मुझे समझानेकी कोशिश कर रही हों। भिखारी जैसे राज-प्रासादके बाहर खड़ा-हुआ राज-भण्डारके बन्द सन्दूकोंमें अद्भुत रत्न-माणिकोंकी कल्पना किया करता है, मैं भी उसी तरह उन अपरिचित मकानोंको कितने खेल और कितनी स्वाधीनताका भण्डार समझा करता, कुछ कह नहीं सकता। सिरके ऊपर आकाशव्यापी प्रखर धूप होती और उसके दूरतम प्रान्तसे चीलोंकी सूक्ष्म-तीक्ष्ण पुकार मेरे कानोंमें आकर प्रवेश करती रहती, और सिधी-बगानकी गलीमें दिवा-निद्रामें मग्न मकानोंके सामनेसे फेरीवाले खिलाती अपने एक खास स्वरमें 'चूड़ी लो, चूड़ी ! खिलौने लो, खिलौने !' बोलते हुए चले जाते, और उससे मेरे मनमें एक तरहकी उदासी-सी छा जाती।

मेरे पिताजी प्रायः भ्रमण किया करते, घरमें नहीं रहते थे। उनका तीसरी मंजिलका कमरा बन्द रहता था। झिलमिलीके अन्दर हाथ डालकर छिटकिनी उठाकर मैं दरवाजा खोल लेता और उनके कमरेमें दक्षिणकी तरफ जो सोफा बिछा था उसपर चुपचाप पड़ा-पड़ा दुपहरी बिता देता। एक तो बहुत दिनोंसे बन्द कमरा, दूसरे प्रवेश-निषिद्ध, उस कमरेमें मानो एक तरहके रहस्यकी घनी गन्ध थी, उसपर सामनेकी जनशून्य छतपर कड़ी धूप,— इससे भी मेरे मनमें एक तरहकी अजान उदासी-सी छा जाती। इसके अलावा और भी एक आकर्षण था। शहरमें नये नये-नये पानीके नल बैठे थे। नव नई महिमाको उदारतासे भारतीय मुहल्लोंमें कंजूसी शुरू नहीं की थी। शहरके दक्षिण और उत्तरमें उसका समान दाक्षिण्य था। उस पानीके नलके सतजुगमें पिताजीके स्नान-घरमें तीसरी मंजिलमें भी पानी चढ़ता था। नलकी झँझरी खोलकर असमयमें जी भरकर नहाकर मनके अरमान मिटा लेता। मेरा वह स्नान आरामके लिए नहीं, सिर्फ इच्छाकी लगाम खोल डालनेके लिए होता। एक ओर मुक्ति और दूसरी ओर बन्धनकी आशंका, दोनों मिलकर कम्पनीके नलकी धारा मेरे मनमें पुलक-शर बरसाती रहती।

बाहरका सम्पर्क मेरे लिए कितना ही दुर्लभ रहा हो, किन्तु बाहरका आनन्द मेरे लिए शायद इसी कारण सहज था। उपकरणोंकी भरमार होनेसे मन आलसी

हो जाता है ; वह बराबर बाहरपर ही सब-कुछ छोड़कर बैठ जाता है, यह भूल जाता है कि आनन्दके भोजमें बाहरकी अपेक्षा भीतरका अनुष्ठान ही मुख्य है। बचपनमें मनुष्यको सर्वप्रथम शिक्षा यही है। तब उसकी पूँजी कम और तुच्छ होती है, किन्तु आनन्द पानेके लिए इससे ज्यादा उसे और किसी चीजकी जरूरत नहीं। संसारमें जो अभागा बच्चा खेलकी चीजें काफी पाता रहता है उसका खेल ही मट्टी हो जाता है।

मकानकी चहारदीवारीके भीतर हमारा जो बगीचा था उसे बगीचा कहना जरा-कुछ ज्यादा कहना है। एक बिजौरेका पेड़, एक बेरका, एक विलायती आमड़ेका और नारियलके पेड़ोंकी एक कतार उसका मुख्य ऐश्वर्य था। बीचमें था एक गोलाकार पक्का चबूतरा। उसकी संधोंकी रेखाओंमें घास और नाना प्रकारके गुल्मोंने अनधिकार-प्रवेश करके अपने झंडे गाड़ दिये थे। फूलोंके पौध मालीकी लापरवाहीकी कोई शिकायत न करके अपनी शक्तिसे अपना कर्तव्य पालन करते रहते थे। उत्तरके कोनेमें एक ढेंकी-घर था, वहाँ गृहस्थीके काममें कभी-कभी अन्तःपुरिकाओंका समागम होता था। कलकत्तामें अपने ग्राम्य जीवन की सम्पूर्ण पराजय स्वीकार करके उस ढेंकी-घरने न-जाने कब किस दिन चुपचाप मुँह ढककर विदा ले ली, कोई जान भी न पाया। प्रथम-मानव आदमका स्वर्गोद्यान हमारे उस बगीचेसे ज्यादा सुसज्जित था, इसमें कम मेरा ऐसा विश्वास नहीं। कारण, प्रथम-मानवका स्वर्गलोक आवरण-हीन था, आयोजनके द्वारा उसने अपनेको आच्छन्न नहीं किया। ज्ञान-वृक्षका फल खानेके बादसे मनुष्यके लिए साज-सिंगारकी आवश्यकता बराबर बढ़ती ही जा रही है, और शायद तब तक बढ़ती ही जायगी जब तक कि वह उस फलको पूरी तरह हजम नहीं कर लेता। घरका बगीचा हमारा ऐसा ही स्वर्गका बगीचा था, और वही मेरे लिए काफी था। मुझे खूब याद है, शरद् ऋतुमें सबेरे आँख खुलते ही मैं उस बगीचेमें जा पहुँचता। बगीचेमें घुसते ही ओससे भीगी घास-पत्तियोंकी एक सुहावनी गन्ध मेरे पास दौड़ी आती, और स्निग्ध नवीन धूप लिये पूर्व दिशाकी प्राचीरके ऊपर नारियलके पत्तोंकी काँपती हुई झालरोंके नीचे प्रभात आकर अपना मुँह बढ़ा देता।

हमारे मकानके उत्तरी हिस्सेमें और-एक जमीनका टुकड़ा खाली पड़ा है,

आज तक हम उसे 'गोला-घर' कहा करते हैं। इस नामके द्वारा प्रमाणित होता है कि किसी एक पुराने जमानेमें वहाँ धानका गोला बनाया गया था और उसमें साल भरके लिए अनाज संग्रह करके रखा जाता था। तब शहर और देहात कम-उमरके भाई-बहनोंकी तरह बहुत-कुछ एकसा चेहरा लिये दिखाई देते थे, अब तो दीदीके साथ भाईका मेल ढूंढ निकालना ही कठिन हो गया है।

छुट्टीके दिन मौका पाते ही मैं उस 'गोला-घर' में पहुंच जाता। 'खेलनेके लिए जाता था' ऐसा कहना ठीक न होगा। खेलकी अपेक्षा उस जगहके प्रति मेरा ज्यादा खिचाव था। इसका कारण बताना मुश्किल है। शायद घरके एक कोनेमें निराली खाली जमीन होनेसे ही मेरे लिए वह रहस्यमयी हो उठी हो। वह हमलोगोंके रहनेकी जगह नहीं थी, किसी व्यवहारमें नहीं आती थी, मकानके बिलकुल बाहर थी, उसपर नित्य-प्रयोजनकी कोई छाप नहीं थी, शोभाहीन अनावश्यक खाली-पड़ी जमीन थी, किसीने वहाँ बेरका पेड़ तक नहीं बोया, और इसीलिए शायद उस उजाड़ जमीनमें बालकका मन अपनी इच्छानुसार कल्पना करनेमें कोई बाधा नहीं पाता था। रक्षकोंके शासनके जरा-से रन्ध्रमेंसे जिस दिन किसी तरह यहाँ पहुँच जाता वह दिन मुझे 'छुट्टीका दिन' ही मालूम होता।

इसके सिवा और भी एक जगह थी, और वह कहाँ थी, सो मैं आज तक पता नहीं लगा सका। मेरी उमरकी, खेलकी संगिनी, एक बालिका[1] उसे 'राजाका घर' कहा करती थी। कभी-कभी उसके मुंह मैं सुना करता था, "आज मैं वहाँ गई थी।" किन्तु एक दिनके लिए भी ऐसा शुभयोग मेरे हाथ नहीं लगा कि मैं भी उसके साथ जाकर देख आता। वह एक आश्चर्यजनक जगह थी, वहाँ खेलना जैसा आश्चर्य-आनन्ददायक था, खेलनेकी चीजें भी वैसी ही अद्भुत थीं। मालूम होता था कि वह बहुत ही नजदीक है; पहली या दूसरी मंजिलमें कहीं होगी; मगर फिर भी किसी-न-किसी तरह वहाँ पहुँचना सम्भव न होता। कितनी ही बार मैंने उस बालिकासे पूछा है, 'राजाका घर क्या हमारे मकानके बाहर है?' किन्तु उसने बराबर यही जवाब दिया कि 'नहीं, इसी मकानमें है।' मैं आश्चर्यमें डूबा बैठा-बैठा सोचा करता, 'सभी कमरे तो मेरे देखे हुए हैं, आखिर वह कमरा

[1] सत्यप्रसादकी बहन इरावती।

है कहाँ ?' यह उसने कभी नहीं पूछा कि राजा कौन है ; और उसके राज्यके सम्बन्धमें भी आज तक मैं कोई जानकारी हासिल नहीं कर सका ; सिर्फ इतना ही मालूम हो सका कि हमारे मकानमें ही उस राजाका घर है।

अपने बचपनकी ओर जब मुड़कर देखता हूं तो जगत् और जीवन रहस्यसे परिपूर्ण मालूम होता है। 'सर्वत्र ही कुछ-न-कुछ अद्भुत और अनिर्वचनीय है, और कब वह दिखाई दे जाय उसका कोई ठीक नहीं' — यह बात प्रतिदिन ही मनमें जागा करती थी। प्रकृति मानो मुट्ठी बन्द करके हँसती-हुई पूछा करती थी, 'इसमें क्या है बताना भला ?' क्या होना असम्भव है सो निश्चितरूपसे नहीं बता सकता था।

खूब याद है, दक्षिणके बरडेके एक कोनेमें सीताफलके बीज गाड़कर रोज उसमें पानी दिया करता था। उस बीजमें पेड़ भी हो सकता है, यह सोचकर मनमें बड़ा आश्चर्य और उत्सुकता पैदा होती थी। सीताफलके बीजमें अब भी अंकुर निकलते हैं, किन्तु उसके साथ-साथ मनके अन्दर अब विस्मय अंकुरित नहीं होता। यह शरीफेके बीजका दोष नहीं, मनका ही दोष है। गुणेन-भाई साहबके[1] बगीचेके क्रीड़ा-शैल (बनावटी पहाड़) से पत्थर चुरा-चुराकर हमलोगोंने अपने पढ़नेके कमरेके एक कोनेमें नकली पहाड़ बनाना शुरू कर दिया था। उसपर इधर-उधर फूलोंके पौधे लगा-लगाकर, उनकी सेवाके बहाने, उनके प्रति हमलोग इतना अत्याचार किया करते थे कि बेचारे पेड़ होनेसे ही सब चुपचाप सह लेते थे और मरनेमें देर न करते थे। उस पहाड़से हमें कितना आनन्द और आश्चर्य होता था, उसे कहकर खतम नहीं किया जा सकता। हमारे मनमें ऐसा विश्वास था कि हमारी यह सृष्टि गुरुजनोंके लिए भी जरूर आश्चर्यकी वस्तु होगी ; किन्तु जिस दिन अपने उस विश्वासकी परीक्षाका मौका हाथ आया उसी दिन देखा गया कि हमारे कमरेका वह पहाड़ अपने पेड़-पौधों समेत न-जाने कहाँ अन्तर्धान हो गया। पढ़नेका कमरा पर्वत-सृष्टिका उपयुक्त क्षेत्र नहीं, इस बातकी शिक्षा इस तरह अकस्मात् और ऐसी रूढ़ताके साथ मिलनेसे हमलोगोंको

---

१ कविके चचेरे भाई। देवेन्द्रनाथके भ्राता गिरीन्द्रनाथके कनिष्ठ पुत्र गुणेन्द्रनाथ ठाकुर।

बड़ा दुःख हुआ था। हमारे खेलके साथ बड़ोंकी इच्छाका इतने जबरदस्त प्रभेदकी याद करके, *कमरेसे हटाये-गये पत्थरोंका बोझ हमारे मनमें जमकर बैठ गया।*

उस जमानेमें इस पृथ्वीका रस हमारे लिए कैसा निविड था, इसी बातका खयाल आता है। क्या मिट्टी और क्या पानी, क्या पेड़-पौधे और क्या आकाश, सब-कुछ तब बात करते थे, मनको किसी भी हालतमें उदासीन नहीं रहने देते थे। पृथ्वीको सिर्फ ऊपरसे ही देख सका, उसके भीतरका कुछ भी नहीं देख पाया, इस बातने मनको कितने दिन कितने धक्के मारे हैं, कुछ कह नहीं सकता। क्या करनेसे पृथ्वीके ऊपरकी यह मटीले रंगकी जिल्द खोली जा सकती है, इसके लिए कितने प्लैन (अटकलें) सोचे होंगे जिनका ठीक नहीं। मन-ही-मन सोचा करता था कि एकके बाद एक इस तरह बहुतसे बाँस अगर ठोक-ठोककर गाड़े जायँ तो पृथ्वीके गभीरतम तलेका किसी कदर पता लगाया जा सकता है। माघोत्सव के उपलक्ष्यमें हमारे घरके बाहरवाले आँगनमें चारों ओर कतारसे लकड़ीके खम्भे गाड़कर उनमें झाड़ लटकाये जाते थे। इसके लिए माघके पहले दिनसे ही आँगनमें मिट्टीकी खुदाई शुरू हो जाती थी। सर्वत्र ही उत्सवके उद्योगका आरम्भ लड़कोंके लिए अत्यन्त औत्सुक्यजनक होता है, किन्तु मेरे लिए यह जमीनकी खुदाई विशेष रूपसे आकर्षक थी। यद्यपि प्रत्येक वर्ष ही मैं इस तरह जमीनका खुदना देखा करता था, देखा करता था कि गड्ढे गहरे होते-होते इतने गहरे हो जाते थे कि उनमें आदमी समा जाते थे, और उनमें कभी किसी बार ऐसा कुछ दिखाई भी नहीं दिया जो किसी राज-पुत्र या पात्रके पुत्रकी पातालपुर-यात्राको सफल कर सके, फिर भी प्रत्येक बार मुझे ऐसा लगता कि किसी रहस्य-सन्दूकका ढकना खोला जा रहा है। ऐसा लगता कि और-जरा खोदा जाय तो पता लग सकता है,—किन्तु वर्षके बाद वर्ष बीतते चले गये, वह 'और-जरा' किसी बार भी खोदा नहीं गया। सोचता था, बड़े चाहें तो सब-कुछ करा सकते हैं, तो फिर क्यों वे इतने अगभीरमें रुकके बैठ जाते हैं! हम जैसे छोटोंकी आज्ञा अगर चलती होती तो पृथ्वीका गूढ़तम सवाद इस तरह उदासीन-रूपमें मिट्टीमें दबा न पड़ा रहता। और एक चिन्ता मनको घरके दिया करती, यह कि जहाँ आकाशकी नीलिमा है उसके पीछे आकाशका सारा रहस्य छिपा पड़ा है। जिस दिन हमारे पण्डितजीने

'बोधोदय' पढ़ाते समय हमें यह बताया कि 'आकाशमें जो नीला गोला-स दिखाई देता है वह कोई बाधा ही नहीं', उस दिन ऐसा असम्भव आश्चर्य हुआ था कि कहा नहीं जा सकता। उन्होंने कहा, 'सीढ़ीपर सीढ़ी लगाते हुए चाहे जितना चढ़ते जाओ, कहीं भी सिर न टकरायेगा।' मैंने समझा कि सीढ़ियोंके विषयमें वे अनावश्यक कंजूसी कर रहे हैं। मैं बराबर स्वर चढ़ाता हुआ कहता गया, 'फिर सीढ़ी, फिर सीढ़ी, फिर सीढ़ी, और भी सीढ़ी—' अन्तमें जब समझमें आ गया कि सीढ़ियोंकी संख्या बढ़ानेमें कोई लाभ नहीं तब आश्चर्यसे दंग रहकर सोचने लगा, और तब ऐसा लगा कि यह ऐसी एक आश्चर्यकी खबर है कि दुनियामें जो मास्टर हैं वे ही सिर्फ जानते हैं, और कोई नहीं जानता।

भृत्य-राजक तन्त्र

भारतवर्षके इतिहासमें दास-राजाओंका राज्य-काल सुखका काल नहीं था। अपने जीवनके इतिहासमें भी भृत्योंके शासन-कालपर जब दृष्टि डालता हूं तो उसमें महिमा या आनन्द कुछ भी नहीं पाता। इन सब राजाओंका परिवर्तन बारबार हुआ है, किन्तु हमारे भाग्यमें जो निषेध और प्रहारकी व्यवस्था बंधी थी उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं आया। तब इस सम्बन्धमें तत्त्वालोचनाका अवसर नहीं मिला, पीठपर जो पड़ता था उसे पीठसे ही सह लेता था, और समझता था कि संसारका यही धर्म है, जो बड़े हैं वे मारते हैं, और जो छोटे हैं वे मार खाते हैं। इससे उल्टी बात, अर्थात् 'जो छोटे हैं वे ही मारते हैं, और जो बड़े हैं वे मार खाते हैं' सीखनेमें बहुत ज्यादा देर लगी थी।

कौन दुष्ट है और कौन शिष्ट, शिकारी इस बातको पक्षीकी दृष्टिसे नहीं देखता, अपनी दृष्टिसे देखता है। इसीलिए, गोली खानेके पहले ही जो सतर्क पक्षी शोर मचाकर स्वजातीय दलको भगा देता है, शिकारी उसे कोसता है। मार खाकर हम रोते थे, मारनेवाला उसे शिष्टोचित नहीं समझता था। वस्तुतः, भृत्य-राजाओंके विरुद्ध वह सिडीशन (राजद्रोह) था। मुझे अच्छी तरह याद है, उस राजद्रोहको सम्पूर्णरूपसे दमन करनेके लिए पानीके बड़े-बड़े 'जाला'ओंमें (मिट्टीके

बने जलपात्र) हमारे रुदनको विलुप्त कर देनेकी कोशिश की जाती थी। इस बातको कोई भी अस्वीकार नही कर सकता कि 'रोदन'-वस्तु प्रहारकारीके लिए अत्यन्त अप्रिय और असुविधाजनक है।

अब, कभी-कभी मै सोचा करता हू, नौकरोंके हाथसे क्यों हम इस तरहका निर्मम व्यवहार पाया करते थे। मोटे हिसाबसे देखा जाय तो यह नही कहा जा सकता कि आकार-प्रकारमें हम स्नेह-दयाके अयोग्य थे। असल कारण यह है कि नौकरोंपर ही हमारा सम्पूर्ण भार जा पड़ा था। और 'सम्पूर्ण भार' निस्सन्देह सबमें सबके लिए बड़ी असह्य चीज होती है। परमात्मीय भी उसे खुशीसे नही ढो सकता। छोटे बच्चेको अगर 'छोटा बच्चा' होने दिया जाय, वह अगर खेल सके, दौड़ सके, अपना कुतूहल मिटा सके, तभी वह सहज-स्वाभाविक हो सकता है। इसके खिलाफ, अगर हम ऐसा ख्याल बना लें कि बच्चेको घरसे बाहर नहीं जाने देंगे, उसके खेलमें खलल डालेंगे, उसे भले-मानसकी तरह शान्तिसे बिठाये रखेंगे, तो जरूर हम अत्यन्त कठिन समस्याकी ही सृष्टि करेंगे। तब फिर, बच्चे जो अपने बचपनके द्वारा अपना भार आप ही अनायास वहन करते रहते हैं वह भार शासनकर्ताओंपर आ पड़ता है। इसके मानी है घोड़ेको जमीनपर न चलने देकर उसे कँधेपर लादे फिरना। जो बेचारा कँधेपर लादता है उसका मिजाज ठीक नही रह सकता। मजूरीके लोभसे वह कँधेपर लादता जरूर है, किन्तु घोड़े बेचारेसे बदला वह कदम-कदमपर लेता रहता है।

अपने बचपनके शासनकर्ताओंमे बहुतोंकी स्मृतियां केवल थप्पड़-मुक्कोंकी शकलमें ही याद आती हैं, इससे ज्यादा और कुछ याद नही आता। सिर्फ एक आदमीकी बात अब भी मनमें स्पष्ट जाग्रत है, उसका नाम था ईश्वर।

ईश्वर (असलमें ब्रजेश्वर) पहले गाँवमें गुरुआई करता था। वह अत्यन्त शुचि-संयत आचारनिष्ठ और गम्भीर-प्रकृतिका आदमी था। जगतमें उसकी पवित्रताकी रक्षाके लिए उपयोगी मिट्टी-पानीका विशेष अभाव था। इसलिए इस मृत्पिण्ड मेदिनीकी मलिनताके साथ हमेशा उसे लड़ाई ही लड़नी पड़ती थी। तालाबमें जाकर वह बिजलीकी-सी तेजीसे तीन-चार हाथ नीचे लोटा डुबोकर पानी भरता था। नहाते समय दोनों हाथोंसे बहुत देर तक ऊपरके पानीको अलग

घरमें रहनेके बाद अकस्मात् एक क्षणमें उंगली लेखनीसे छुआ दी गयी लेता जैसे गाल्वको अन्यमनस्क करके और धकाकर धोखेसे गिर दिया गया हो। चलते समय उसका दाहिना हाथ इस ढंगसे देहसे कुछ अलग बना रहता कि मानो उसका यह हाथ शरीरके सपक्षोंपर विश्वास नहीं कर पा रहा है। मानो जल-स्थल-आकाश और लोक-व्यवहारके रन्ध्र-रन्ध्रमें असंख्य दोष घुसे हुए हैं और अहोरात्र उनसे बचकर चलना ही उसकी एक विषम साधना है। उसके लिए यह असह्य था कि विश्वजगत् का कोई अंश किसी तरफसे उसके ऊपर आ पड़े। अतलस्पर्श उसका गाम्भीर्य था। गरदन जरा टेढ़ी करके गम्भीर स्वरमें चबा-चबाकर बात करना उसका स्वभाव था। साधारण बोलचालमें उसके साधु-भाषाके प्रयोगपर बड़े-बूढ़े लोग अक्सर हँसा करते थे। उसके विषयमें हमारे घरमें एक कहावत-सी चल पड़ी थी कि वह वरानगरको वराहनगर कहता है। हो सकता है कि यह जनश्रुति हो, किन्तु इतना मुझे मालूम है कि उसने 'अमुक आदमी बैठा है' न कहके 'अमुक प्रतीक्षा कर रहे हैं' कहा था। उसके मुहसे इस प्रकारके साधुभाषाके प्रयोग हमारे पारिवारिक कौतुकालापके भंडारमें बहुत दिनों तक संचित थे। हालां कि आजकल भद्र-घरके किसी भृत्यके मुहसे ऐसे प्रयोग हास्यास्पद नहीं समझे जाते। इससे मालूम होता है कि हमारे यहाँ पुस्तकोंकी भाषा क्रमशः बोलचालकी भाषाकी तरफ बढ़ रही है और बोलचालकी भाषा पुस्तकोंकी भाषाकी तरफ। किसी समय दोनोंमें जो जमीन-आसमानका भेद था अब वह क्रमशः मिट रहा है।

इस भूतपूर्व गुरुजीने शामके बाद हमलोगोंको संयत रखनेके लिए एक उपाय निकाला था। दिन छिपते ही वह हमलोगोंको एक टूटे-फूटे चिरागदानके चारों तरफ बिठाकर 'रामायण'-'महाभारत' सुनाया करता था। नौकरोंमेंसे और भी दो-चार श्रोता आ जुटते थे। चिरागदानमें अंडीका तेल जलता था, उसके क्षीण प्रकाशसे कमरेकी कड़ियों तक बड़ी-बड़ी छाया पड़ती थी, दीवारोंपर छिपकलियाँ कीड़े-मकोड़े पकड़कर खाया करती थी, बाहरके बरंडेमें चमगादड़ उन्मत्त दरवेशकी तरह लगातार चक्कर काटा करते थे, और हमलोग स्थिर बैठे मुह बाये कथा सुना करते थे। जिस दिन लव-कुशकी कथा छिड़ी, उन वीर बालकोंने जब अपने चचा-पिताको एकदम मिट्टीमें मिला देनेकी ठान ली, उस दिन रातके उस अस्पष्ट आलोकमें

वह सभा निस्तब्ध औत्सुक्यकी निविड़तासे कैसी परिपूर्ण हो उठी थी, उसकी अब भी मुझे याद है। इधर रात हो रही थी, हमारे जागरण-कालकी अवधि क्रमशः समाप्त हो रही थी, किन्तु उधर परिणामका अभी बहुत-कुछ बाकी था। ऐसे संकट-कालमें सहसा हमारे पिताके अनुचर किशोरी चटर्जी आ गये और दाशुरायकी 'पचाली' गाकर बहुत ही जल्द उन्होंने बाकीका अंश पूरा कर दिया; और तब कृत्तिवासकी सरल पयार-छन्दकी मृदु-मन्द कलध्वनि कहाँ विलुप्त हो गई, पता नहीं, — अनुप्रासोंके चमत्कार और झंकारसे हम बिलकुल हतबुद्धि-से हो गये।

किसी-किसी दिन पुराण-पाठके प्रसंगमें श्रोताओंकी सभामें शास्त्र-घटित तर्क उठता था, और ईश्वर सुगभीर विज्ञताके साथ उसकी मीमांसा कर देता था। यद्यपि छोटे बच्चोंका नौकर होनेसे भृत्य-समाजमें पद-मर्यादाकी दृष्टिसे वह बहुतोंसे नीचा था, फिर भी कुरु-सभामें भीष्म पितामहके समान अपने कनिष्ठों से निम्न-आसनपर बैठकर भी उसने अपने गुरु-गौरवको अविचलित रखा था।

हमारे इस परम प्राज्ञ रक्षकमें एक कमजोरी थी, और ऐतिहासिक सत्यके खातिर उसे प्रकट करना पड़ रहा है। वह अफीम खाता था। इसलिए उसे पुष्टिकर आहारकी खास जरूरत थी। लिहाजा, हमारे बाँटका दूध जब वह हमारे सामने उपस्थित करता था तब उस दूधके सम्बन्धमें विप्रकर्षणकी अपेक्षा आकर्षण-शक्ति ही उसके मनमें अधिक प्रबल हो उठती थी। हमलोग दूध पीनेमें स्वभावतः अरुचि प्रकट करते थे तो वह हमारे प्रति स्वास्थ्योन्नतिकी जिम्मेदारी निभानेके लिहाजसे भी किसी दिन दुबारा अनुरोध या जबरदस्ती नहीं करता था।

हमारे जलपानके विषयमें भी उसे अत्यन्त संकोच था। हमलोग खाने बैठते। हमारे सामने एक कठौतेमें पूड़ियोंका ढेर लगा रहता। पहले-पहल वह मात्र दो-एक पूड़ी काफी ऊँचाईसे शुचिताकी रक्षा करते हुए हमारी पत्तलमें बरसा देता; देवलोककी नितान्त अनिच्छा होते हुए भी मात्र तपस्याके जोरसे मनुष्य जैसे अपने तईं वर वसूल कर लेता है, ठीक उस वरकी तरह दो-चार पूड़ियाँ हमारी पत्तलमें आकर पड़तीं, उससे परिवेषणकर्ताके कुंठित दक्षिण हस्तका दाक्षिण्य प्रकट नहीं होता था। उसके बाद ईश्वर प्रश्न करता, 'और देनी होंगी क्या?'

मैं जानता था कि कौनसे उत्तरको वह सबसे बढ़कर मदुत्तर समझेगा, और इसीलिए फिर उसे वंचित करके दूसरी बार पूछी माँगनेकी मेरी इच्छा न होती थी। हमारे लिए बाजारसे भी जलपान खानेके पैसे ईश्वरको मिलते थे। और प्रतिदिन वह हमलोगोंसे पूछ भी लिया करता था कि हम क्या खाना चाहते हैं। मैं जानता था कि सस्ती चीजकी फरमाइश करनेमें ही वह खुश होगा। इसलिए, कभी तो चूड़ा-'मूढ़ी' आदि लघु-पथ्य और कभी उबले-हुए चने, भुने-हुए चीना-बादाम आदि अपथ्यका आदेश देता। देखा जाता कि शास्त्र-विधान आचार-तत्त्व आदिके विषयमें सूक्ष्म विचार करनेमें उसके जितना प्रबल उत्साह था, हमारे पथ्य अपथ्यके सम्बन्धमें ठीक उतना उत्साह उसमें नहीं था।

नार्मल स्कूल

जब मैं ओरियण्टल सेमिनरीमें पढ़ता था तब महज एक छात्र बने रहनेमें जो मेरी हीनता थी उसे मिटा देनेके लिए मैंने एक उपाय ढूंढ निकाला था। अपने घरके बरंडेके एक खास कोनेमें मैंने भी एक क्लास खोल दी। बरंडेके आगे जो काठकी रेलिंग थी उसके सीखचे मानो डंडे मेरे छात्र थे। एक खपची हाथमें लेकर उनके सामने चौकीपर बैठकर मैं मास्टरी करता। रेलिंगके डंडोंमें कौनसा अच्छा लड़का था और कौनसा बुरा, अपने मनमें इसका मैं स्थायी निर्णय कर चुका था। यहाँ तक कि भले-मानस डंडे और शरारती डंडेकी, बुद्धिमान डंडे और बेवकूफ डंडेकी शकल-सूरतका फर्क मुझे साफ-साफ दिखाई देता था। निरन्तर मेरी खपचीकी मार खा-खाकर शरारती डंडोंकी ऐसी दुर्दशा हो गई थी कि उनमें अगर प्राण होते तो वे जरूर प्राण विसर्जन करके शान्ति प्राप्त कर सकते थे। लाठीकी चोटसे जितनी ही उनमें विकृति आती रहती उतना ही उनपर मेरा गुस्सा बढ़ता जाता, और मेरी कुछ समझमें न आता कि कैसे उन नालायकोंको काफी सजा दी जाय, ताकि उनकी अकल ठिकाने आ जाय। मैंने उस नीरव क्लासपर कैसी भयंकर मास्टरी की है, इस बातकी गवाही देनेवाला आज कोई भी मौजूद नहीं है। उस जमानेके मेरे उन काष्ठ-निर्मित छात्रोंकी जगह अब लौह-निर्मित

नीत्वचे भरती हो गये हैं ; हमारे उत्तरवर्तियोंमेंसे इनकी शिक्षकताका भार आज भी किसीने ग्रहण नहीं किया है, और करते भी तो नवकी शासन-प्रणालीमें अब कोई फल भी नहीं होता। इस बातको मैंने अच्छी तरह परख लिया है कि शिक्षकों की दी-हुई विद्या सीखनेमें लड़के बहुत विलम्ब करते हैं, किन्तु शिक्षकोंका भाव सीख लेनेमें उन्हें कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ता। शिक्षा-दानके व्यापारमें जो-कुछ अन्याय-अविचार, अधैर्य, रोष और पक्षपात होता था, अन्यान्य शिक्षणीय विषयों की अपेक्षा उसे मैंने बड़ी आसानीसे अख्तियार कर लिया था। खुशीकी बात इतनी ही है कि काठके डंडे जैसे नितान्त निर्वाक् और अचल पदार्थके सिवा किसीपर अपनी उस बर्बरताका प्रयोग करना, मेरी उस दुर्बल उमरमें, मेरे हाथ नहीं था। किन्तु, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यद्यपि रेलिंग-श्रेणीके साथ छात्रोंकी श्रेणीमें काफी पार्थक्य था, फिर भी मेरे और सकीर्णचित्त शिक्षकोंके मनस्तत्वमें लेशमात्र भी प्रभेद नहीं था।

ओरिएण्टल सेमिनरीमें शायद मैं ज्यादा दिन नहीं था। उसके बाद मैं नॉर्मल स्कूलमें[1] भरती हुआ। तब मेरी उमर बहुत छोटी थी। एक बात मुझे याद है, विद्यालयका काम शुरू होनेके पहले गैलरीमें बैठकर सब लडके गानेके स्वरमें कैसी तो कविताएँ पढ़ा करते थे। शायद उसमें इस बातकी कोशिश थी कि शिक्षाके साथ-साथ लडकोंका कुछ मनोरंजन भी हो। लेकिन गानेके शब्द अंग्रेजी थे और सुर भी तथैवच। मेरी कुछ समझमें न आता था कि हम क्या मन्त्र पढ़ रहे हैं और कौनसा अनुष्ठान कर रहे हैं। प्रतिदिन वही एक अर्थहीन राग अलापना मेरे लिए सुखदायक नहीं था। इसमें सबसे बढकर मजेकी बात यह थी कि स्कूलका अधिकारीवर्ग तत्कालीन किसी एक थ्योरीको मानकर बिलकुल निश्चिन्त था कि उसने लड़कोंके लिए मनोरंजनकी व्यवस्था कर दी है, और प्रत्यक्ष लड़कोंकी तरफ देखकर उसके फलाफलपर विचार करना वह फजूल समझता था। मानो उनकी थ्योरीके अनुसार आनन्द पाना लडकोंका एक कर्तव्य हो और न पाना अपराध। इसलिए जिस अंग्रेजी किताबमेंसे उनलोगोंने थ्योरी अपनाई थी उसमेंसे

[1] यह स्कूल जुलाई १८५५ ई० में ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके तत्त्वावधानमें स्थापित हुआ था।

एक पूराका पूरा अंग्रेजी गाना लेकर वे आराम अनुभव कर रहे थे। हमारे मुहसे यह अंग्रेजी किस भाषामें परिणत हुई थी, उसकी आलोचना शब्द-तत्त्वविदोंके लिए अवश्य ही मूल्यवान साबित होगी। सिर्फ एक पंक्ति याद आती है—

"कलोकी पुलोकी सिंगिल मेलालिंग मेलालिंग मेलालिंग।"

बहुत गवेषणा करनेके बाद इसके मूलपाठका कुछ अंश उद्धार कर सका हूं, किन्तु 'कलोकी' शब्द किसका रूपान्तर है सो आज तक तय नहीं कर पाया। बाकीका अंश मेरी समझसे यह होना चाहिए :—

Full of glee, singing merrily, merrily, merrily.

क्रमशः नॉर्मल स्कूलकी स्मृति जहां धुंधली अवस्था पार करके परिस्फुट होने लगती है वहां किसी भी अंशमें वह लेशमात्र मधुर नहीं मालूम होती।[1] लड़कोंके साथ अगर मैं घुल-मिल सकता तो विद्या-शिक्षाका दुःख इतना असह्य नहीं मालूम होता। किन्तु ऐसा मुझसे किसी भी तरह हो नहीं सका। अधिकांश लड़कोंका सम्पर्क ऐसा अशुचि और अपमानजनक था कि दोपहरकी छुट्टीका समय मैं नौकरके साथ ऊपर जाकर सड़ककी तरफकी खिड़कीके पास अकेला बैठा बिता देता। मन-ही-मन हिसाब लगाता रहता, एक साल, दो साल, तीन साल, और भी कितने साल इस तरह बिताने पड़ेंगे। शिक्षकोंमें एककी बात मुझे याद है, वे ऐसी कुत्सित भाषा प्रयोग किया करते थे कि उनके प्रति अश्रद्धावश उनके किसी प्रश्नका मैं उत्तर ही नहीं देता था। उनकी कक्षामें मैं बारहों महीने सबसे पीछे चुपचाप बैठा रहता। जब पढ़ाई शुरू होती तो उस अवकाशमें मैं संसारकी अनेक दुरूह समस्याओंके समाधानकी कोशिश किया करता। एक समस्या मुझे अब भी याद है। अस्त्र-हीन होते-हुए भी शत्रुको युद्धमें कैसे पराजित किया जा सकता है, यह मेरे लिए गम्भीर चिन्ताका विषय था। मुझे खूब याद है, पढ़ाईकी गुञ्जनध्वनिमें उस कक्षामें बैठा हुआ मैं यही बात सोचा करता था। सोचा करता कि कुत्ते और शेर वगैरह हिंसक जन्तुओंको अच्छी तरह शाइस्ता करके,

---

१ रवीन्द्र-साहित्यके दूसरे भागमें प्रकाशित "दुलहिन" शीर्षक कहानी इस नॉर्मल स्कूलकी ही स्मृतिके आधारपर लिखी गई थी।

पहले उनकी दो-चार पंक्तियाँ यदि युद्धक्षेत्रमें सजा दी जायें, तो लड़ाईके अखाड़ेकी भूमिका खूब मजेकी जम उठेगी ; और फिर अपना बाहुबल काममें लाया जाय तो विजय प्राप्त करना अधिक कष्टसाध्य नहीं होगा। मन-ही-मन इस अत्यन्त सहज प्रणालीकी रणसज्जाका चित्र जब कल्पनामें दिखाई देने लगता तब युद्धक्षेत्रमें अपने पक्षकी जीत बिलकुल सुनिश्चित दिखाई देने लगती। हाथमें जब कोई काम नहीं था तब कामके बहुतसे आश्चर्यजनक सहज उपाय आविष्कार कर लिया करता था ; किन्तु काम करनेका जब मौका आया तब देखा गया कि जो कठिन है सो कठिन ही है, जो दुःसाध्य है सो दुःसाध्य ही है ; और उसमें कुछ असुविधा जरूर है, किन्तु उसे सहज करनेकी कोशिश करनेमें असुविधाएँ और भी दसगुनी बढ जाती है।

इस तरह उस कक्षामें जब एक साल बीत गया तब द्वितीय शिक्षक मधुसूदन वाचस्पतिके सामने मुझे परीक्षा देनी पड़ी। सबसे ज्यादा मुझ ही को नम्बर मिले। हमारी कक्षाके शिक्षकोंने अधिकारियोंको जताया कि परीक्षकने मेरे प्रति पक्षपातसे काम लिया है। फिर दुबारा मेरी परीक्षा ली गई। अबकी बार स्वयं स्कूलके सुपरिण्टेण्डेण्ट परीक्षाकी टेबिलके पास कुरसी डाले बैठे रहे ; और अबकी बार भी भाग्यसे मुझे ऊंचा स्थान प्राप्त हुआ।

कविता-रचनारम्भ

मेरी उमर तब सात-आठ सालसे ज्यादा न होगी। मेरे एक भानजे श्री ज्योतिप्रकाश मुझसे उमरमें काफी बडे थे। वे तब अंग्रेजी साहित्यमें प्रवेश करके खूब उत्साहके साथ हैमलेटके स्वगत वाक्य दुहराया करते थे। मुझ जैसे बालकसे कविता लिखानेके लिए क्यों उन्हें सहसा इतना उत्साह हुआ सो मैं नहीं कह सकता। एक दिन दोपहरको उन्होंने मुझे अपने कमरेमें बुलाकर कहा, "तुम्हें कविता लिखनी होगी।" कहते हुए उन्होंने मुझे पयार-छन्दमें चौदह अक्षर जोड़नेकी रीति-पद्धति समझा दी।

कविता जैसी चीजको मैंने अब तक केवल छपी-हुई पुस्तकोंमें ही देखा था।

उसमें न तो कहीं काट-छाँट होती है और न गौर-विचारकर उलटफेर करनेकी कोई गुंजाइश ही ; अर्थात् उसमें कहीं भी कोई सर्व-अनोनित दुर्बलताका चिह्न देखनेमें नहीं आता। ऐसी कविता और कोई भी कोशिश करके लिख सकता है, इस बातकी कल्पना करनेकी भी तब हिम्मत नहीं थी। एक दिन हमारे घर चोर पकड़ा गया था। बहुत ही डरता-हुआ, किन्तु अत्यन्त कुतूहलके साथ, मैं उसे देखने गया। देखा कि वह बिलकुल ही मामूली आदमी जैसा है। ऐसी अवस्था में दरवानने जब उसे मारना शुरू कर दिया तो मेरे मनको बड़ी चोट पहुँची। कविताके सम्बन्धमें भी मेरी यही दशा हुई। कुछ शब्दोंको अपने हाथमें जोड़-तोड़कर ही जब 'पयार' छन्द हो उठा तो पद्य-रचनाकी महिमाके सम्बन्धमें मोह फिर टिक न सका। अब देखता हूं कि कविता-बेचारीपर जो मार पड़ती है वह भी कम नहीं। कभी-कभी तो दया भी आती है ; पर मारको रोका नहीं जा सकता हाथ सुरसुराते रहते हैं। चोरकी पीठपर भी इतने लोगोंके इतने डडे नहीं पड़ते।

डर जब कि एक बार जाता रहा, तब फिर किसके रोके रुक सकता था ! किसी-एक कर्मचारीकी कृपासे नीले कागजकी एक कापी प्राप्त कर ली ; और उसपर अपने हाथसे पैन्सिलसे कुछ असमान लकीरें खींच-खींचकर बड़े-बड़े कच्चे अक्षरोंमें कविता लिखना शुरू कर दिया।

हरिणके बच्चेके नये सींग निकलते समय वह जैसे जहाँ-तहाँ सींग मारता फिरता है, नवीन काव्योद्गमके मारे मैंने भी उसी तरह उत्पात शुरू कर दिया। खासकर, मेरे भाई साहब (सोमेन्द्रनाथ) मेरी इन रचनाओंसे गर्वित होकर श्रोता संग्रह करनेमें ऐसा उत्साह दिखाने लगे कि धरती उठा ली। मुझे याद है, एक दिन हम दोनों भाई नीचेकी मंजिलमें अपनी जमींदारीकी कचहरीके अमलोंके समक्ष कवित्वकी घोषणा करके लौट रहे थे कि इतनेमें तत्कालीन 'नेशनल पेपर'के सम्पादक श्री नवगोपाल मित्रने हमारे घर प्रवेश किया। भाई साहबने उसी वक्त उन्हें गिरफ्तार कर लिया, और कहा, "नवगोपाल बाबू, रविने एक कविता लिखी है, सुन लीजिये।" सुनानेमें देर नहीं की गई। काव्य-ग्रन्थावलीका बोझ तब भारी नहीं हुआ था। कविकी कीर्ति तब कविकी जेबमें ही आसानीसे फिरा करती थी। खुद ही तब लेखक-मुद्रक-प्रकाशक इन तीनोंका एक और

क़का तीन बना हुआ था। सिर्फ विज्ञापन करनेके काममें भाई साहब मेरे सहयोगी । मैंने कमलपर एक कविता लिखी थी, उसे मैंने ड्योढीके सामने खड़े-खड़े ही साह-भरे ऊँचे स्वरमें नवगोपाल बाबूको सुना दिया। उन्होंने जरा हँसते ; कहा, "अच्छी लिखी है,—लेकिन यह तो बताओ 'द्विरेफ' शब्दके मानी या है ?"

'द्विरेफ' और 'भ्रमर' दोनों ही तीन अक्षरके शब्द हैं। भ्रमर शब्दका व्यवहार ‍या जाता तो कोई अनिष्ट नही होता। यह दुरूह शब्द कहाँसे ढूढ निकाला ।, याद नही। सारी कवितामें वही एक शब्द था जिसपर मेरी आशा सबसे ग़ादा थी। दफ्तरके अमलोंमें उस शब्दसे मुझे काफी सुफल मिला था, किन्तु वगोपाल बाबूको वह जरा भी विचलित न कर सका। और तो क्या, वे हँस ग़ये। मुझे दृढ विश्वास हो गया कि नवगोपाल बाबू समझदार आदमी नही हैं। नें उन्हें फिर कभी कोई कविता नही सुनाई। उसके बाद मेरी अब काफी उमर ो चुकी है, किन्तु, कौन समझदार है और कौन नही, इसके परखनेकी पद्धतिमें ास कोई परिवर्तन हुआ हो, ऐसा तो नही मालूम होता। कुछ भी हो, नवगोपाल ाबू हँसे जरूर, किन्तु 'द्विरेफ' शब्द मधुपान-मत्त भ्रमरकी तरह अपने स्थानमें विचलित ही रह गया।

नाना विद्याओंका आयोजन

उन दिनो नॉर्मल स्कूलके एक शिक्षक, श्री नीलकमल घोषाल महाशय, हम ोगोंको घरपर पढाने आते थे। उनका शरीर क्षीण शुष्क और कठस्वर तीक्ष्ण ा। देखनेमें ऐसे लगते थे जैसे मानव-जन्मधारी कोई बेंत हो। सबेरे छै बजेसे ‍कर साढे-नौ बजे तक हमारी शिक्षाका भार उन्हींपर निर्भर था। 'चारु पाठ' स्तु-विचार' और 'प्राणिवृत्तान्त' से लेकर माइकेल मधुसूदन दत्तके 'मेघनाद-ध' काव्य तक इन्हींसे पढा था हमलोगोंने। इसके अलावा हमें विचित्र विषयोंमें शिक्षा देनेमें मझले भाई साहब (हेमेन्द्रनाथ) विशेष उत्साहित थे। स्कूलमें हमारे ‍लेए जो-कुछ पाठ्य था, घरपर उससे बहुत ज्यादा पढना पड़ता था। अँधेरा

पहले गजर-दम उठकर लमोटी कसके पहले तो एक काने पहलवानके साथ कुश्ती लड़नी पड़ती थी। फिर अखाड़ेकी मिट्टी-लदा बदनपर कुरता पहनकर 'पदार्थ-विद्या', 'मेघनाद-वध' काव्य, ज्यामिति, गणित, इतिहास और भूगोल सीखना पड़ता था। स्कूलसे लौटते ही ड्राइंग और जिम्नास्टिकके मास्टर हमें आ घेरते थे। और दिन छिपने ही अंग्रेजी पढ़ानेके लिए अघोर बाबू आ जाते थे। इस तरह रातके नौ बजेके बाद तब कहीं छुट्टी मिलती थी।

रविवारको सवेरे विष्णुचन्द्रसे संगीत सीखना पड़ता था। इसके सिवा प्रायः बीच-बीचमें सीतानाथ दत्त महाशय आकर यन्त्र-तन्त्रके सहारे प्राकृत-विज्ञान सिखाया करते थे। यह शिक्षा मेरे लिए विशेष औत्सुक्यजनक थी। गरम करते समय उत्तापके जोरसे पात्रके नीचेका पानी पतला होकर ऊपर आ जाता है, भारी पानी नीचे चला जाता है और इसीलिए पानी खौलने लगता है — इस बातको जिस दिन उन्होंने काँचके पात्रके पानीमें लकड़ीका बुरादा डालके आँचपर चढ़ाकर प्रत्यक्ष दिखा दिया उस दिन अपने मनमें मैंने कैसा आश्चर्य अनुभव किया था सो आज भी स्पष्ट याद है। दूधके अंदर पानी एक अलग वस्तु है, उबालनेसे वह भाप हो उड़ जाता है और तब दूध गाढ़ा हो जाता है — यह बात भी जिस दिन साफ समझ ली उस दिन भी बड़ा-भारी आनन्द हुआ था। जिस रविवारको सवेरे वे नहीं आते थे वह रविवार मुझे रविवार ही नहीं मालूम होता था।

इसके सिवा, कैम्बेल मेडिकल स्कूलके एक विद्यार्थीसे, किसी-एक समय मैंने अस्थि-विद्या सीखना शुरू कर दिया था। इसके लिए तारोंसे जुड़ा-हुआ एक नर-कंकाल[1] खरीदकर हमारे पढ़नेके कमरेमें लटका दिया गया था।

इसी बीचमें किसी समय हेरम्बचन्द्र तत्त्वरत्न महाशयने हमलोगोंको एकदम 'मुकुन्द सच्चिदानन्द'से शुरू करके 'मुग्धबोध'के सूत्र कंठस्थ कराना शुरू कर दिया। अस्थि-विद्याके हाड़ोंके नाम और बोपदेवके सूत्र इन दोनोंमें जीत किसकी हुई थी, सो मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता। मेरा खयाल है, हाड़ ही कुछ नरम थे।

बंगलाकी शिक्षा जब काफी आगे बढ़ चुकी थी तब हमलोगोंने अंग्रेजी पढ़ना

१ रवीन्द्र-साहित्य, प्रथम भागमें "कंकाल" कहानी देखिये।

शुरू किया था। हमारे मास्टर अघोर बाबू मेडिकेल कॉलेजमें पढ़ते थे। रातको वे हमें पढ़ाने आते थे। काठसे अग्निका उद्भावन ही आदमीके लिए सबसे बड़ा उद्भावन है, यह बात शास्त्रोंमें पाई जाती है। मैं इसका प्रतिवाद नहीं करना चाहता। किन्तु इस बातका ख्याल किये बिना मन चैन नहीं पाता कि रातको पक्षी जो बत्ती नहीं जला सकते, यह उनके बच्चोंके लिए बड़ा-भारी सौभाग्यका विषय है। पक्षी जो भाषा सीखते हैं सो सवेरे ही सीखते हैं और प्रसन्न मनसे ही सीखते हैं, इस बातपर सभीने लक्ष्य किया होगा। अलबत्ता, उनकी वह भाषा अंग्रेजी भाषा नहीं, इस बातका भी ध्यान रखना उचित है।

उन मेडिकेल कॉलेजके विद्यार्थी-महाशयका स्वास्थ्य इतना अन्याय-रूपसे अच्छा था कि उनके तीनों छात्रोंके सर्वान्तःकरणसे कामना करनेपर भी उन्हें एक दिनके लिए भी अनुपस्थित नहीं रहना पड़ा। सिर्फ एक बार जब कि मेडिकेल कॉलेजके फिरंगी छात्रोंके साथ बंगाली छात्रोंकी लड़ाई हुई थी और शत्रुपक्षने कुरसी फेंककर उनका सर फोड़ दिया था, तब उनकी उपस्थिति बन्द हुई थी। हालाँ कि घटना शोचनीय थी, किन्तु फिर भी उस समय हमलोगोंने मास्टर साहबके फूटे भालको अपने भालका दोष नहीं समझा था ; और उनके आरोग्य-लाभको हमलोगोंने अनावश्यक शीघ्रताका ही दोष दिया था।

शाम हो चुकी थी ; मूसलधार वर्षा हो रही थी , सड़कपर घुटनों पानी जम गया था। हमारा तालाब ऊपर तक भर गया था ; तालाबके किनारेवाला बेलका पेड़ अपना भारी मस्तक लिये जाग रहा था ; वर्षा-सध्याके पुलकसे मेरा मन कदम्ब-फूलकी तरह रोमांचित हो उठा था। मास्टर साहबके आनेके समयको पार हुए चार-छै मिनट बीत चुके थे। किन्तु फिर भी कहा नहीं जा सकता ! सड़कके किनारेवाले बरंडेमें कुरसीपर बैठा गलीकी मोड़की तरफ करुण दृष्टिसे एकटक देख रहा था , संस्कृतमें जिसे कहते हैं 'पतति पतत्रे विचलति पत्रे शंकित भवदुपयान'। इतनेमें छातीके भीतरका हृत्पिण्ड मानो सहसा पछाड़ खाकर 'हा हतोस्मि' करता हुआ गिर पड़ा। दैव-दुर्योगसे भी न-हारनेवाली वह काली छतरी दिखाई देने लगी ! हो सकता है कि और कोई हो। नहीं, सो हरगिज नहीं हो सकता। भवभूतिके समानधर्मी इस विशाल संसारमें *मिल भी सकते*

है, किन्तु उन दिन रातको हमारी ही गलीमें मास्टर साहबके समानधर्मा और रिसीका अभ्युदय बिलकुल असंभव[1] था।

जब सब बातोंको याद करता हूं तो देखता हूं कि अघोर बाबू बिलकुल ही कठोर मास्टर-जातिके आदमी हों, सो बात नहीं। वे हमलोगोंपर बाहुबलसे शासन नहीं करते थे। मुहसे भी जितना कुछ तर्जन करते थे उसमें गर्जनका भाव शायद विशेष कुछ नहीं था। किन्तु वे चाहे जितने भी भले-मानस हों, उनके पढ़ानेका समय था दिआ-बत्तीके बाद रातको और पढ़ानेका विषय था अंग्रेजी। सम्पूर्ण दुःख-दिनके बाद रातको टिमटिमाते हुए दिआके उजालेमें भार्गव बालकको अंग्रेजी पढ़ानेका भार यदि स्वयं विष्णुदूतको भी सौंपा जाय, तो भी वह यमदूत ही मालूम होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। मुझे खूब याद है, एक दिन अघोर बाबूने हमलोगोंको यह समझानेकी भरपूर कोशिश की थी कि अंग्रेजी भाषा कोई नीरस भाषा नहीं है, और उसकी सरसताका उदाहरण देनेके लिए, गद्य था या पद्य इतना याद नहीं, थोड़ी-सी अंग्रेजी उन्होंने मुग्धभावसे हमलोगोंको सुनाई थी। हमलोगोंको वह बड़ी अद्भुत मालूम हुई थी। हमलोग इतने हँसने लगे कि उस दिन उन्हें चला जाना पड़ा, वे समझ गये कि मामला जीतना इतना सहज नहीं, डिग्री पानेके लिए और-भी दस-पन्द्रह साल बाकायदा पैरवी करनी पड़ेगी।

मास्टर साहब कभी-कभी हमारी पाठ-मरुस्थलीमें मुद्रित पुस्तकोंके बाहरकी दखिनी हवा चलानेकी कोशिश किया करते थे। एक दिन सहसा जेबमेंसे कागजमें लिपटा एक रहस्य निकालते हुए उन्होंने कहा, "आज मैं तुमलोगोंको विधाताकी एक आश्चर्यजनक सृष्टि दिखाऊंगा।" और कागज खोलकर आदमीकी एक कंठनली निकालके उसका सारा कौशल समझाने लगे। मुझे अच्छी तरह याद है, उससे मेरे मनको कैसा-तो एक धक्का-सा लगा था। मेरी धारणा थी कि समूचा आदमी बात करता है; उसकी बात करनेकी क्रियाको इस तरह टुकड़े रूपमें देखा जा सकता है, इसकी मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी। मशीन और उसका कौशल चाहे कितना ही आश्चर्यकारी क्यों न हो, वह समूचे आदमीसे बड़ा नहीं हो सकता। यह सच है कि तब इस तरहसे नहीं सोचा था, किन्तु मन जरूर

[1] देखो रवीन्द्र-साहित्य, भाग ७ में 'असंभव बात' कहानी।

कुछ म्लान हो गया ; और मास्टर साहबके उत्साहके साथ में भीतरसे योग नहीं दे सका। बात करनेका असल रहस्य उस आदमीमें ही था, इस कंठनलीमें नहीं, मुर्देकी चीर-फाड़ करते समय वे शायद इस बातको कुछ-कुछ भूले हुए थे, इसीलिए उनकी कंठनलीकी व्याख्या उस दिन बालकोंके मनके तारको ठीक तौरसे बजा न सकी। उसके बाद एक दिन वे हमलोगोंको मेडिकेल कालिजके शव-परीक्षागारमें ले गये थे। टेबिलपर एक वृद्धाका शव लिटाया-हुआ था ; उसे देखकर मेरा मन उतना चचल नहीं हुआ, किन्तु जमीनपर एक कटा-हुआ पैर पड़ा हुआ था, उस दृश्यसे मेरा सम्पूर्ण मन सहसा चौंक उठा था। आदमीको इस प्रकार टुकड़ोंमें देखना ऐसा भयकर और असगत है कि उस जमीनपर पड़े एक काले अर्थहीन पैरकी बात मैं बहुत दिनों तक भूल नहीं सका।

प्यारीचरण सरकारकी अग्रेजीकी पहली और दूसरी पुस्तक ('फर्स्ट बुक ऑफ रीडिंग' और 'सेकेण्ड बुक ऑफ रीडिंग') किसी कदर खतम करते ही हमलोगोंको 'मक्लक्स् कोर्स ऑफ रीडिंग' श्रेणीकी एक पुस्तक शुरू करा दी गई। एक तो वैसे ही रातको शरीर-मन थका-हुआ और मन अन्तःपुरकी ओर था, उसपर उस किताबकी जिल्द काली और मोटी, भाषा कठिन और विषयोंमें निश्चिततरूपसे दया मायाको भी नहीं थी, कारण बच्चोंके प्रति उन दिनों माता सरस्वतीमें मातृभाव का कोई लक्षण मैंने नहीं देखा। आजकलकी तरह बच्चोंकी किताबोंमें तब पन्ने-पन्नेमें तसवीरोंका चलन नहीं था। प्रत्येक पाठ्य-विषयकी ड्योढ़ीपर कतार बाँधे सिलेब्ल्की दरार-मुद्रा उच्चारण-विधि ऐक्सेण्ट-चिह्नकी तेज सगीन उठाये शिशुपाल-वधके लिए कवायद करती रहती थी। अग्रेजी भाषाके इस पाषाण-दुर्गकी ड्योढ़ीपर हम सिर पटक-पटककर हार जाते, पर कुछ कर नहीं पाते थे। मास्टर साहब अपने और-किसी एक अच्छे छात्रका दृष्टान्त देकर हमलोगोंको प्रतिदिन धिक्कारा करते थे। इस प्रकारकी तुलनात्मक समालोचनासे उस लड़केके प्रति हमारी प्रीति बढ़ती हो, सो बात नहीं; हमलोग लज्जित भी होते थे, किन्तु उस काली किताबका अँधेरा ज्योंका त्यों अटल बना रहता था। प्रकृतिदेवीने जीवोंपर दया करके दुर्बोध्य पदार्थमात्रमें निद्राकर्षणका मोहमंत्र डाल रखा है। हम जैसे ही पढ़ना शुरू करते वैसे ही ऊंघने लगते थे। आँखोंमें पानीके छींटे

डलवाकर और बरडेमें दौड़ लगवाकर भी मास्टर साहबको कोई स्थायी फल नहीं मिलता था। इतनेमें दैवसे कहीं बड़े भाई साहब (द्विजेन्द्रनाथ) बरडेमें निकलते और हमारी निद्रा-कातर अवस्था देख लेते तो उसी वक्त हमें छुट्टी मिल जाती। किन्तु उसके बाद फिर हमारी नींद कहाँ चली जाती, कुछ पता ही नहीं लगता।

बाहरकी यात्रा

कलकत्तामें एक बार व्यापकरूपसे डेंगू-बुखार चला था; और तब हमारे विशाल परिवारके कुछ भागको पनिहट्टी जाकर छातू-बाबूके बगीचेमें आश्रय लेना पड़ा था। हमलोग भी उसमें शामिल थे।

वहीं मेरी पहली बाहरकी सैर थी। गंगाकी तटभूमिने मानो किसी पूर्वजन्मके परिचयसे मुझे गोदमें उठा लिया। बगीचेमें नौकरोंके लिए अलग बरडेदार कोठरियाँ थीं; और उनके सामने अमरूदके कई पेड़ थे। मैं उन पेड़ोंकी छाया तले बरडेमें बैठ जाता, और अमरूदके पेड़ोंके अन्तरालसे गंगाकी धारा देखते देखते दिन बिता देता। रोज सवेरे बिस्तरसे उठते ही मुझे ऐसा लगता कि मानो वह दिन मुझे सुनहली पाड़-दार नई चिट्ठीके रूपमें मिला हो। लिफाफा खोलते ही मानो कोई अपूर्व खबर मिलेगी। बादमें कहीं जरा-सी-कुछ नुकसान न उठाना पड़े, इस आग्रहसे झटपट मुह-हाथ धोकर बाहर जाकर चौकीपर बैठ जाता। प्रतिदिन गंगाकी विचित्र महिमा देखा करता, ज्वार-भाटेका आना-जाना, तरह-तरहकी नावोंकी तरह-तरहकी गति-भंगिमा, अमरूदके पेड़ोंकी छायाका पश्चिमसे पूर्वकी ओर हटते रहना, गंगाके उस पार कोन्नगरके तटपर श्रेणीबद्ध वनान्धकारके ऊपर विदीर्णवक्ष सूर्यास्त-कालका धारावाहिक स्वर्ण-शोणितका प्लावन। किसी-किसी दिन सवेरेसे ही बादल घिर आते, उस पारके पेड़ काले हो जाते; नदीपर काली छाया छा जाती; देखते-देखते जोरकी वर्षा उतर आती और उससे दिगन्त धुंधला हो जाता, उस पारकी तट-रेखा मानो आँखोंमें आँसू लिये विदा हो जाती; नदी फूल-फूल उठती और गीली हवा इस पारके पेड़-पौधोंका जो-जीमें-आता करती-फिरती।

कड़ी-धरन-दीवारके जठरसे निकलकर बाहरके जगतमें मानो नया जन्म मिल गया। सभी चीजोंको और-एक बार नये तौरसे जाननेमें पृथ्वीपरसे अभ्यास की तुच्छताका आवरण मानो बिल्कुल ही हट गया। सवेरे ईखके गुड़से बासी पूड़ी खाता था, और तब यह निश्चय था कि स्वर्गलोकमें इन्द्र जो अमृत खाया करते हैं उसके और इसके स्वादमें कोई खास फरक नहीं। कारण, अमृत वस्तु रसमें नहीं, रस-बोधमें है, इसलिए जो उसे खोजा करते हैं उन्हें वह मिलता ही नहीं।

जहाँ हमलोग बैठा करते थे उसके पीछे दीवारसे घिरा-हुआ पक्के घाटका एक छोटा-सा तालाब था; और उस घाटके पास ही सफेद-जामुनका खूब बड़ा एक पेड़ था। इसके अलावा, चारों तरफ और भी बहुतसे बड़े-बड़े फलोंके पेड़ ऐसे सटे-हुए खड़े थे मानो उनपर पुष्करिणीकी आवरू बनाये रखनेका भार सौंपा गया हो। पिछवाड़ेके छोटेसे बगीचेका वह ढका-हुआ घिरा-हुआ छायामय संकुचित घूंघट-शुदा सौन्दर्य मुझे बहुत ही मनोहर मालूम होता था। समानेके उदार गंगा-तटके साथ इसका कितना फरक था! यह मानो घरकी बहू हो, और एक कोनेकी ओटमें, अपने हाथकी कढ़ी बेल-बूटेदार हरे रंगकी गुदड़ी बिछा कर, मध्याह्नके निभृत अवकाशमें मनकी बातें गुनगुनाकर व्यक्त कर रही हो। उस मध्याह्नमें ही बहुत दिन गंने सफेद-जामुनके पेड़की छायामें घाटपर अकेले बैठे-बैठे तालाबके गहरे तलेमें यक्षपुरीके भयके राज्यकी कल्पना की है।

देशके गँवई-गाँवोंको अच्छी तरह देखनेके लिए बहुत दिनोंसे मेरे मनमें उत्सुकता थी। गाँवकी, बस्ती, घर-द्वार, चौपार, हाट-बाट-पगडंडी, खेल-कूद खेत-खलिहान-मैदान और जीवनयात्राकी कल्पना मेरे हृदयको बहुत ज्यादा आकर्षित करती थी। ऐसा गँवई-गाँव उस गंगा-तटके बगीचेके ठीक पीछे मौजूद था, पर वहाँ हमारे लिए जानेकी मनाही थी। हमलोग बाहर तो निकले, पर स्वाधीनता नहीं मिली। पहले थे पिंजड़ेमें, और अब बिठा दिये गये अड्डेपर, पाँवकी जंजीर नहीं टूटी।

एक दिन सवेरे मेरे अभिभावकोंमेंसे दो जने मुहल्लेमें घूमने निकले थे। मैं भी अपने कुतूहलका आवेग न सम्हाल सकनेके कारण चुपके-चुपके दबे-पाँव उनके पीछे-पीछे कुछ दूर तक गया था। गाँवके रास्तेसे घने जंगलकी छाया

और नारियलके पौधोंके घेरेसे घिरे-हुए 'पाना' (सेवाल-जातीय जल-लता) से ढके तालाबके किनारेसे चलते-चलते बड़े आनन्दसे उन चल-चित्रोंको मनमें अंकित कर रहा था। एक आदमी इतनी अबेरमें तालाबके किनारे उघड़े-बदन खड़ा-खड़ा दँतौन कर रहा था, उसकी आज भी मुझे ज्योंकी त्यों याद है। कुछ दूर जानेके बाद सहसा मेरे अभावनियोंको पता लग गया कि मैं उनके पीछे-पीछे आ रहा हूं। उसी वक्त उन्होंने डाटना शुरू कर दिया, "जाओ, जाओ, इसी वक्त लौट जाओ।" उन्हें इस बातका खयाल था कि मेरी पोशाक बाहर निकलने लायक नहीं है। पाँवोंमें मोजे नहीं, बदनपर एक कुरतेके सिवा और-कोई शिष्ट आच्छादन नहीं, – इसे उनलोगोंने मेरा अपराध समझा। किन्तु मोजे और पोशाकका कोई उपद्रव मेरे था ही नहीं, लिहाजा सिर्फ उसी दिन ही मुझे हताश होकर लौट आना पड़ा हो, सो बात नहीं, भूल-सुधार करके भविष्यमें और-किसी दिन बाहर जानेका उपाय भी न रहा।

पीछेका दरवाजा मेरे लिए अक्सर बन्द हो गया, किन्तु गंगाने सामनेसे मेरे सारे बन्धन हरण कर लिये। पाल-चढ़ाए बहती हुई नावोंपर मेरा मन चाहे-जब बिना किरायेके सवार हो जाता और ऐसे-ऐसे देशोंकी सैर किया करता जिनका 'भूगोल' में आज तक कहीं कोई परिचय ही नहीं दे सका।

यह लगभग चालीस साल[1] पहलेकी बात है। उसके बाद फिर उस बगीचेमें पुष्पित चम्पाके पेड़के तले नहानेके घाटपर आज तक कभी पदार्पण नहीं किया। वे पेड़-पौधे, वे घर-द्वार अवश्य ही वहाँ होंगे, किन्तु वह बगीचा अब वहाँ नहीं रहा, , क्योंकि बगीचा तो सिर्फ पेड़-पौधोंका बना हुआ नहीं था, एक बालकके नव-विस्मयके आनन्दसे गढ़ा हुआ था,—वह नव-विस्मय अब कहाँ मिलेगा?

फिर 'जोड़ासाँको'वाले अपने घर लौट आया। और मेरे दिन फिर नॉर्मल स्कूलके फटे-हुए मुख-विवरमें प्रतिदिन निर्धारित ग्रास-पिण्डके समान प्रवेश करने लगे।

---

१ 'जीवन-स्मृति' १९११ ई० में लिखी गई थी। तबसे ४० साल पहले।

काव्य-रचनाका अनुशीलन

नीले कागजकी मेरी वह कापी क्रमशः टेढ़ी-सीधी लाइनों और मोटे-पतले अक्षरोंसे, कीटावासकी तरह, भरती होती चली गई। बालकके आग्रहपूर्ण चंचल हाथोंके पीड़नसे पहले तो वह कुंचित हुई, फिर क्रमशः उसके किनारे ऐसे फटे कि मानो उसमेंसे कुछ उंगलियोंने निकलकर भीतरकी लिखाईको मुट्ठीमें बन्द कर लिया हो। उस नीली कापीको करुणामयी विलुप्ति देवीने कब उठाकर वैतरणी के किस भाटेके स्रोतमें बहा दिया मुझे नही मालूम। अहा, बेचारी भवभयसे मुक्त हो गई, मुद्रणयन्त्रकी जठर-यन्त्रणासे छुटकारा पाकर बच गई।

'मैं कविता लिखता हूं' इस खबरके प्रचारके विषयमें मैं उदासीन नही था, इतना तो मुझे मानना ही पडेगा। सातकौड़ी दत्त महाशय यद्यपि हमारी कक्षाके शिक्षक नही थे, फिर भी मुझपर उनका विशेष स्नेह था। उन्होंने 'प्राणी-वृत्तान्त' नामकी एक पुस्तक लिखी थी। आशा है, कोई सुदक्ष परिहास-रसिक व्यक्ति उस पुस्तकमें लिखित विषय-वस्तुका ख्याल करके मेरे प्रति उनके स्नेहका कारण निर्णय न करेंगे। उन्होने एक दिन मुझे बुलाकर पूछा, "सुना है तुम कविता लिखा करते हो?" 'लिखा करता हूं' इस बातको मैंने छिपाया नही। उसके बादमे वे मुझे उत्साहित करनेके लिए बीच-बीचमें दो-एक चरण कविता देकर उसकी पूर्ति कर लानेके लिए कहा करते। उनमेंसे एक मुझे अब भी याद है—

"रविकरे जालातन आछिलो सबाई,
बरषा भरसा दिलो आर भय नाई।"[1]

मैंने इसके साथ जो पद्य जोडा था उसकी सिर्फ दो पंक्तियां याद हैं। मेरी उस जमानेकी कविताको किसी कदर भी दुर्बोध्य नही कहा जा सकता, इस बातका सबूत देनेके लिए मैं इस मौकेसे लाभ उठा रहा हूं—

"मीनगण हीन होये छिलो सरोवरे,
एखोन ताहारा सुखे जलक्रीड़ा करे।"[1]

इसमें गम्भीरता जितनी भी है सो सरोवर-सम्बन्धी है, बहुत ही स्वच्छ।

और-एक निजी व्यक्तिगत वर्णनमेंसे चार पंक्ति उद्धृत की जाती है ; आशा है, इसकी भाषा और भाव अलंकार-शास्त्रानुसार प्राञ्जल समझा जायगा—

"आमसत्त दूधे फेलि ताहाते कदली दलि,
सन्देश माखिया दिया ताते—
हापुस हुपुस शब्द चारि दिक निस्तब्ध,
पिंपड़ा काँदिया जाय पाते।"[1]

हमारे स्कूलके गोविन्द बाबू घन-कृष्णवर्ण नाटे-मोटे आदमी थे। स्कूलके सुपरिण्टेण्डेण्ट थे वे। काली अचकन पहने दूसरी मंजिलके आफिस-रूममें रजिस्टर वगैरह लिखा करते थे। उनसे हमलोग डरा करते थे। वे ही थे विद्यालयके दण्डधारी शासक-विचारक। एक दिन अत्याचारसे पीड़ित होकर बड़ी तेजीसे मैं उनके आफिसमें घुसा था। असामी थे पाँच-छै जने बड़े-बड़े लड़के ; मेरी तरफ गवाह कोई भी नहीं था। गवाहमें थे सिर्फ मेरे आँसू। उस फौजदारी मामलेमें मैं जीता था, और उस परिचयके बादसे गोविन्द बाबू मुझे करुणाकी दृष्टिसे देखा करते थे।

एक दिन छुट्टीके वक्त सहसा उनके आफिसमें मेरी पुकार हुई। मैं भयभीत चित्तसे ज्यों ही उनके सामने पहुँचा त्यों ही उन्होंने पूछा, "मैंने सुना है, तुम कविता लिखा करते हो ?" कबूल करनेमें मैंने क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं किया। याद

---

१ इन तीनों कविताओंका पंक्तिवार शब्दार्थ यह है:—

"रवि-करसे परेशान या तंग आ गये थे सब,
वर्षाने भरोसा दिया, अब डर नहीं।"
"मछलियाँ हीन होकर सरोवरमें थीं,
अब वे आरामसे जल-क्रीड़ा कर रही हैं।"
"अमावट दूधमें डाल उसमें केले मसल,
'सन्देश' मिलाकर उसमें—
सपड़-सपड़ शब्द है चारों ओर निस्तब्ध है
चींटी रो-रोकर पड़ती पत्तलमें।"

नही, कौनसी एक उच्चागकी नीतिके विषयमें उन्होंने मुझे कविता लिख लानेकी आज्ञा दी। गोविन्द बाबू जैसे अतिगम्भीर व्यक्तिके मुहसे कविता लिखनेका आदेश कैसा अद्भुत सुललित था, इस बातको वे नही समझ सकते जो उनके छात्र नही रहे। दूसरे दिन जब मैंने अपनी कविता लाकर उन्हें सुनाई तो उन्होंने मुझे छात्रवृत्तिकी कक्षामें ले जाकर खड़ा कर दिया, और कहा, "पढकर सुनाओ।" मैंने ऊंचे स्वरमें कविता पढकर सुना दी।

उस नीति-कविताकी प्रशसा करनेका एकमात्र विषय है– वह बहुत जल्द खो गई। छात्रवृत्ति-कक्षामें उसका नैतिक फल जैसा देखा गया वह आशाप्रद नही। कमसे कम, उस कविताके द्वारा श्रोताओंके मनमें कविके प्रति रंचमात्र भी सद्भावका संचार नही हुआ। अधिकाश लड़के ही आपसमें कहासुनी करने लगे कि यह कविता हरगिज मेरी अपनी लिखी-हुई नहीं है। एकने कहा कि जिस कवितासे यह चोरी की गई है उसे वह लाकर दिखा सकता है। किसीने भी उससे लाकर दिखानेके लिए आग्रह नही किया। उनलोगोंके लिए विश्वास करना ही आवश्यक था, प्रमाणित करनेमें उस विश्वासको धक्का पहुंच सकता था। इसके बाद कवि-पदप्रार्थियोकी संख्या बढने लगी। उनलोगोने जो रास्ता अख्तियार किया वह नैतिक उन्नतिका प्रशस्त मार्ग नही था।

आजकलके जमानेमें छोटे लड़कोंका कविता लिखना जरा भी अनहोनी बात नही। आजकल कविताके घमडका भडाफोड़ हो गया है। मुझे याद है, उन दिनो दैवसे जो दो-एक महिलाएँ कविता लिखा करती थी उन्हें सब-कोई विधाता की आश्चर्यमय सृष्टि समझते थे। आज अगर किसीसे सुनें कि महिलाएँ कविता नही लिखती, तो वह ऐसा असम्भव मालूम होगा कि आसानीसे उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। कवित्वका अकुर आजके जमानेमें, उत्साहके अकालमें भी, छात्रवृत्ति-कक्षाके बहुत पहले ही सिर उठा लेता है। अतएव, बालककी जिस कीर्ति-कहानीका यहाँ उद्घाटन किया गया है उसमे वर्तमान-कालके कोई गोविन्द बाबू आश्चर्य-चकित नही हो सकते।

श्रीकंठ बाबू

इस समय मुझे एक श्रोता मिल गये थे। ऐसे श्रोता अब नहीं मिलनेके। वे थे रायपुरके सिंह-परिवारके श्रीकंठ सिंह महाशय, सत्येन्द्रप्रसन्न सिंह महाशयके ज्येष्ठतात। 'अच्छा लगने'की शक्ति उनकी ऐसी असाधारण थी कि मासिक पत्रमें संक्षिप्त-समालोचक-पद पानेके वे बिलकुल ही अयोग्य थे। वृद्ध सज्जनने बिलकुल पके-हुए बम्बइया आमका, अम्लरसके आभासमात्रसे वर्जित स्वभाव पाया था; उनके स्वभावमें कहीं भी नामको भी रेशा नहीं था। गंजी चाँद, दाढ़ी-मूछ साफ, स्निग्ध-मधुर चेहरा, मुहमें दाँतोंकी कोई बला नहीं, बड़ी-बड़ी आँखें और उनमें अविराम हास्य-माधुर्य। वे अपने स्वाभाविक भारी गलेसे जब बात करते थे तो ऐसा लगता था जैसे उनका सारा बदन बोल रहा हो। वे उस जमानेके फारसी-पढ़े रसिक आदमी थे, अंग्रेजीसे उनका कुछ लेन-देन ही नहीं था। उनके बामपार्श्वकी नित्यसंगिनी थी एक गुड़गुड़ी, गोद-ही-गोदमें घूमता-फिरता था सर्वदा एक सितार, और कंठमें गानको नहीं था विश्राम।

परिचय हो या न हो, स्वाभाविक हृद्यताके बलसे मनुष्यमात्रपर उनका एक तरहका अबाध अधिकार था जिसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता था। मुझे स्पष्ट याद आ रहा है, एक दिन वे हमलोगोंको लेकर किसी एक अंग्रेज फोटोग्राफरकी दूकानपर फोटो उतरवाने गये थे। उसके साथ उन्होंने हिन्दी-बंगला मिलाकर ऐसा आलाप जमा लिया कि अत्यन्त परिचित आत्मीयकी तरह उससे जोरसे कहने लगे, "तसवीर उतरवानेके लिए इतने ज्यादा दाम मैं हरगिज नहीं दे सकता, मैं गरीब आदमी हूं, — नहीं नहीं, साहब, ऐसा हरगिज नहीं हो सकता।" और साहबने हँसते हुए सस्ते दामोंमें फोटो उतार दी। कड़े अंग्रेजकी दूकानमें उनके मुहसे ऐसा असंगत अनुरोध जो जरा भी अशोभन नहीं सुन पड़ा, उसका कारण यह कि मनुष्यमात्रके साथ उनका सम्बन्ध स्वभावतः निष्कंटक था। वे किसीके बारेमें संकोच नहीं रखते थे, क्योंकि उनके मनमें संकोचका कोई कारण नहीं था।

किसी-किसी दिन वे मुझे अपने साथ एक युरोपीय मिशनरीके घर ले जाया करते थे। वहाँ जाकर वे गाना गाकर, सितार बजाकर, मिशनरी लड़कियोंको

लाड़-प्यार करके, उनके बूट-सुदा छोटे-छोटे पाँवोंका स्तुतिवाद करके सभा ऐसी जमा दिया करते थे कि और-किसीके लिए वैसा करना कदापि सम्भव नहीं, और-कोई ऐसा करता तो जरूर वह उपद्रव ही समझा जाता, पर श्रीकंठ बाबूके विषयमें कोई भी ऐसा खयाल नहीं करता ; बल्कि लोग उन्हें अपने पास पाकर हँसते और खुश ही होते।

और-फिर, उनपर कोई अत्याचार करनेवाला दुष्ट व्यक्ति भी आघात नहीं कर सकता था। किसीके द्वारा की-गई अपमानकी कोशिश उनपर अपमान-रूपमें नहीं आ पड़ती थी। हमारे घर किसी समय एक प्रसिद्ध गायक कुछ दिनके लिए थे। वे मत्त अवस्थामें श्रीकंठ बाबूको जो मनमें आता कह दिया करते थे। श्रीकंठ बाबू प्रसन्न चित्तसे सब-कुछ मान लेते, जरा भी प्रतिवाद न करते। अन्तमें उनके प्रति दुर्व्यवहारके लिए उस गायकको हमारे घरसे विदा कर देना ही तय हुआ। इससे श्रीकंठ बाबू व्याकुल हो उठे ; और उसकी रक्षा करनेकी कोशिश करने लगे। वे बार-बार कहने लगे, 'उसने तो कुछ किया नहीं, शराबने किया है।'

कोई दुःख पाये, यह उनसे नहीं सहा जाता था ; बल्कि उसकी कहानी भी उनके लिए असह्य थी। यही कारण है कि लड़कोंमेंसे कोई जब उन्हें हँसी-हँसीमें पीड़ा देना चाहता तो उन्हें वह विद्यासागरके 'सीता-वनवास' या 'शकुन्तला' में से कोई-एक करुण अंश पढ़ सुनाता, और वे दोनों हाथ उठाकर अनुनय-विनय करके किसी तरह रोकनेके लिए चंचल हो उठते।

ये वृद्ध सज्जन जैसे मेरे पिताके और बड़े भाइयोंके बन्धु थे वैसे ही हमलोगोंके भी थे। हमसबोंके साथ उनकी उमर एकसी मिलती थी। कविता सुनानेके लिए ऐसे अनुकूल श्रोता सहजमें नहीं मिलते। झरनाकी धारा जैसे एक छोटा-सा कंकड़ पा जानेपर भी उसे घेरकर नाचनेमें मत्त हो जाती है, वे भी उसी तरह कोई भी एक कारण मिलते ही अपने उल्लाससे उछल उठते थे। मैंने दो ईश्वर-स्तुतियाँ बनाई थीं। उनमें यथारीति संसारके दुःख-कष्ट और भव-भवकी वेदनाओंका उल्लेख भी था। उन्होंने सोचा कि ऐसी सर्वांगपूर्ण पारमार्थिक कविता मेरे पिताको सुनाई जाय तो वे अवश्य ही प्रसन्न होंगे। एक दिन वे बड़े उत्साहके साथ मेरी कविता लेकर पिताजीके पास पहुँचे। सौभाग्यसे मैं

स्वयं वहाँ उपस्थित नहीं था ; किन्तु बादमें मालूम हुआ कि उनके घनिष्ठ पुत्रको इतनी जल्दी संसारका दुःसह दावानल कष्ट देने लगा है, पयार-छन्दमें इसका परिचय पाकर वे खूब हँसे थे। विषयका गाम्भीर्य उन्हें जरा भी अभिभूत नहीं कर सका। हाँ, इतना मैं निश्चित रूपसे कह सकता हूं कि हमारे सुपरिन्टेण्डेण्ट गोविन्द बाबू होते तो वे जरूर मेरी उन कविताओंका आदर करते।

गानोंके विषयमें मैं श्रीकंठ बाबूका प्रिय शिष्य था। उनका एक गीत था 'मैं छोड़ूं ब्रजकी बांसुरी', उस गानेको मेरे मुंहसे सबको सुनानेके लिए वे मुझे कमरे कमरेमें खींच ले जाया करते थे। मैं गाना शुरू करता और वे सितारमें झनकार दिया करते। जहां गानेका मुख्य झुकाव होता, 'मैं छोड़ूं', उस जगह वे खुद भी मस्त होकर गानेमें शरीक हो जाते; और, बार-बार उसे दुहराते और सिर हिलाते हुए मुग्धदृष्टिसे सबोंके मुहकी ओर देख-देखकर मानो सबको धक्के दे-देकर 'अच्छा लगने' में उत्साहित करते रहनेकी कोशिश किया करते। वे मेरे पिताके भक्त बन्धुओंमेंसे थे। उनके दिये हुए एक हिन्दी गीतके आधारपर एक ब्रह्म-संगीत बनाया गया था, 'अन्तरतर अन्तरतम है वे, उन्हें न भूल जाना'। यह गीत पिताजी को सुनाते-सुनाते आवेगमें आकर वे कुरसीसे उठ खड़े होते थे। सितारको बड़ी तेजीसे झकारते हुए वे एक बार कहते, 'अन्तरतर अन्तरतम है वे', और फिर तुरत उनके मुहके सामने जाकर हाथ हिलाते हुए उसे दुहराकर कहते, 'अन्तरतर अन्तरतम तुम हो।'

ये वृद्ध सज्जन मेरे पितासे अन्तिम बार मिलने आये थे चुचुड़ामें, जब कि पिताजी वहां गंगा-किनारेके बगीचेमें रह रहे थे। श्रीकंठ बाबू तब अन्तिम रोगग्रस्त थे, उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं थी, उन्हें पलकोंमें उंगली देकर देखना पड़ता था। ऐसी हालतमें, जब कि वे अपनी कन्याके शुश्रूषाधीन वीरभूम जिलेके रायपुरमें रहते थे, चुचुड़ा (हुगली) महज मिलनेके लिए आये थे। बड़ी मुश्किलसे मात्र एक बार पिताजीके पांव छूकर अपने चुचुड़ाके मकानमें लौट गये ; और थोड़े दिन बाद ही उनकी मृत्यु (१८८४-८५ ई०) हो गई। उनकी पुत्रीसे मालूम हुआ कि आसन्न मृत्युके समय भी 'कैसी मधुर करुणा है तेरी, प्रभो' गीत गाकर उन्होंने चिरमौन ग्रहण किया था।

वंगला-शिक्षाका अंत

हमलोग स्कूलमें तब छात्रवृत्ति-कक्षाके एक कक्षा नीचे वंगला पढ़ते थे। घरमें हमारी बंगला-पढाई कक्षाकी पढ़ाईसे बहुत आगे बढ़ गई थी ; अक्षयकुमार दत्तकी 'पदार्थ-विद्या' और माइकेल मधुसूदन दत्तका 'मेघनाद-वध' काव्य हम खतम कर चुके थे। 'पदार्थ-विद्या' पढ़ी थी, किन्तु पदार्थके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही था, मात्र पोथीकी पढ़ाई-भर की थी ; और 'विद्या' भी तदनुरूप ही हुई थी। असलमें उतना समय सम्पूर्णतः नष्ट हुआ था। बल्कि मेरा तो खयाल है कि 'नष्ट'से भी और-कुछ ज्यादा हुआ था ; कारण, कुछ न करके जो समय नष्ट किया जाता है उससे बहुत ज्यादा नुकसान होता है कुछ करके समय नष्ट करनेमें। 'मेघनाद-वध' काव्य भी मेरे लिए कोई आरामकी चीज नही था। जो चीज थालीमें पडनेमे उपादेय मालूम होती है वही अगर सरपर पडे तो खतरनाक हो सकती है। भाषा सिखानेके लिए अच्छा काव्य पढाना तलवारसे दाढी वनानेके समान है। इससे तलवारकी तौहीनी तो होती ही है, साथ ही गला और ठोडीकी भी कम दुर्गति नही होती। काव्य जैसी चीजको रसकी दिशामें पूरी तरह काव्यके तौरपर ही पढ़ाना चाहिए ; ऐसा न करके धोखेसे उससे कोष और व्याकरणका काम निकाल लेना माता सरस्वतीके लिए कदापि तुष्टिकर नही हो सकता।

इन्ही दिनों, अचानक एक दिन हमारा नॉर्मल स्कूलका जाना बन्द कर दिया गया। इसका थोड़ा-सा इतिहास है। हमारे विद्यालयके किसी शिक्षकने किशोरी चन्द्र मित्र-लिखित मेरे पितामहके संस्मरण ('द्वारकानाथ ठाकुरके संस्मरण' नामक अंग्रेजी पुस्तक) पढना चाहा। मेरा सहपाठी सत्यप्रसाद उस पुस्तकके लिए हिम्मत करके पिताजीके पास पहुँचा। उसने समझा था कि सर्वसाधारणके साथ साधारणत: जिस प्राकृत-बंगलामें बात कही जाती है उस भाषामें उनसे बात करनेसे काम न चलेगा, इसलिए गौडीय साधु-भाषामें उसने ऐसी अभिनन्दनीय रीतिसे वाक्य-विन्यास करके उनसे पुस्तक माँगी कि पिताजी तुरत ताड गये कि हमलोगोंकी बंगला-भाषा आगे वढते-वढते अन्तमें अपने वंगलापनको ही लाँघके पार हो जाना चाहती है। दूसरे दिन हमलोग अपने नियमानुसार दक्षिणके वरडेमें मेज लगाकर,

दीवारपर काला बोर्ड लटकाकर, नीलकमल बाबूने पढ़ने बैठे ही थे कि इतनेमें पिताजीके ऊपरके कमरेमें हम तीनोंकी पुकार हुई। उन्होंने कहा, "आजसे तुम लोगोंको अब बंगला पढ़नेकी जरूरत नहीं।" मारे खुशीके हमारे मन नाचने लगे।

हमारे नीलकमल पंडितजी अब तक नीचे बैठे हुए थे; बंगला ज्यामितिकी किताब खुली पड़ी थी, और शायद 'मेघनाद-वध' काव्यकी पुनरावृत्तिका संकल्प चल रहा था। किन्तु, मृत्युकालमें परिपूर्ण घर-गृहस्थीका विचित्र आयोजन आदमी के लिए जैसे मिथ्या प्रतिभात होता है वैसे ही हमारे लिए भी पंडितजीसे लेकर बोर्ड लटकानेका कीला तक एक क्षणमें सब माया-मरीचिकाके समान शून्य हो गया। पर, किस तरह यथोचित गम्भीरताकी रक्षा करते हुए पंडितजीको हमारी निष्कृति का समाचार दिया जाय, हमारे लिए यह एक समस्या हो गई। आखिर संयत होकर मैंने ही समाचार सुनाया। दीवारपर टँगे काले बोर्डपर ज्यामितिकी विचित्र रेखाएँ मेरे मुहकी ओर एकटक देखती रहीं; जिस 'मेघनाद-वध'का प्रत्येक अक्षर हमारे लिए 'अमित्र' था, आज वह इतना निरीह होकर टेबिलपर चित पड़ा रहा कि उसे तब 'मित्र' समझनेके सिवा और कोई चारा ही न रहा।

विदा लेते समय पंडितजीने कहा, "कर्तव्यकी खातिर तुमलोगोंके प्रति समय समयपर मैंने बहुत कठोर व्यवहार किया है, उस बातका खयाल न रखना। तुमलोगोंको मैंने जो-कुछ सिखाया है, भविष्यमें तुम उसका मूल्य समझ सकोगे।"

मूल्य मैं समझ गया हूँ। बचपनमें अपनी मातृभाषा पढ़ता था इसीलिए सम्पूर्ण मनका चलना सम्भव हुआ था। शिक्षा-वस्तुको यथासम्भव आहारके समान होना चाहिए। खाद्यद्रव्यमें दाँत गड़ाते ही उसके स्वादका सुख मिलने लगता है, पेट भरनेके पहलेसे ही पेट खुश होकर जाग उठता है; और इससे उसके जारक रसोंका आलस्य दूर हो जाता है। भारतीयोंके लिए अंग्रेजी शिक्षामें ऐसा हो ही नहीं सकता। उसमें दाँत गड़ाते ही ऊपर-नीचेके दाँत शुरूसे आखिर तक हिल उठते हैं; मुहके भीतर छोटा-मोटा एक भूकम्प शुरू हो जाता है। उसके बाद फिर यह समझनेमें ही कि वह लोष्ट्र-जातीय पदार्थ नहीं किन्तु रसमें पगा मोदक है, आधी उमर निकल जाती है। हिज्जे और व्याकरणका ठसा लगकर आँख-नाकसे

जब पानी निकल रहा हो, पेट तब बिलकुल उपासा ही रहता है। अन्तमें बडी मुश्किलसे और बहुत देरसे खानेके साथ जब परिचय होता है तब भूख ही मर जाती है। शुरूमें ही अगर मनको चलानेका मौका नही दिया गया तो मनकी चलत्‌शक्ति ही मन्द पड़ जाती है। उस जमानेमें जब कि चारों तरफ खूब कसके अंग्रेजी पढनेकी धूम मची हुई थी तब जिन्होंने साहस करके हमलोगोंके लिए दीर्घकाल तक बंगला सिखानेकी व्यवस्था कर दी थी, अपने उन स्वर्गीय भाई साहब (हेमेन्द्रनाथ) के लिए सकृतज्ञ प्रणाम करता हूँ।

नॉर्मल स्कूल छोडकर हमलोग 'बंगाल एकाडेमी' नामक एक फिरंगी स्कूलमें भरती हुए। इससे हमारा गौरव कुछ बढा। ऐसा लगा कि हम बहुत-कुछ बडे हो गये हैं, कमसे कम स्वाधीनताकी पहली मंजिलमें चढे हैं। वस्तुतः इस विद्यालय में हम जो भी कुछ आगे बढे थे सो केवल उस स्वाधीनताकी दिशामें। वहाँ क्या पढ रहे हैं सो कुछ भी नही समझते थे, पढने-लिखनेकी कोई कोशिश ही नहीं करते थे। न करनेपर भी उसपर किसीका लक्ष्य नही था। यहाँ लड़के थे शरारती किन्तु घृण्य नही थे, और इस अनुभूतिसे बडा आराम मिला था। वे अपनी हथेली पर उलटा ass लिखकर 'हैलो' कहकर मानो प्यारसे पीठपर थप्पड़ मारा करते थे और उससे जनसमाजमें अवज्ञाभाजन उक्त चतुष्पदका नाम पीठके कपडेपर अंकित हो जाता था। बाज-बाज लडका राह चलते-चलते सहसा सिरपर केला मसलकर ऐसा गायब हो जाता कि पता ही नही लगता; और कोई-कोई पीठपर मुक्का जमाकर अत्यन्त निरीह भले-मानसकी तरह दूसरी ओर ऐसे मुह फेर लेता कि देखकर साधु-सन्तका भ्रम होने लगता। ये-सब उत्पीडन ऐसे हैं जो शरीरपर ही लगते हैं, मनपर उनकी कोई छाप नहीं पडती। इन्हें उत्पात ही कहा जा सकता है, अपमान नही। इसीमें यहाँ मुझे ऐसा लगा कि कीचडसे निकलकर पत्थरपर पैर रखा है,—इसमें पाँव कट जाय सो भी अच्छा, पर मलिनतासे तो बच गये। इस विद्यालयमें मुझ जैसे लडकेके लिए सबसे बडी सुविधा यह थी कि हम पढ-लिखकर उन्नति करेंगे, हमारे सम्बन्धमें ऐसी असम्भव दुराशा किसीके मनमें नहीं थी। छोटा-सा स्कूल था, आय कम थी। स्कूलके अध्यक्ष डिकुज साहब हमारे एक सद्‌गुणपर मुग्ध थे, और वह यह कि हम प्रतिमास नियमित-रूपसे फीस चुका दिया

करते थे। इसीलिए लैटिन व्याकरण हमारे लिए दुःसह नहीं हुआ और पाठचर्याकी भारी त्रुटियोंके बावजूद हमारी पीठें अनाहत थीं। शायद विद्यालयके जो अध्यक्ष थे उन्होंने इस सम्बन्धमें शिक्षकोंको मनाही कर दी थी,— हमारे प्रति ममता ही इसका एकमात्र कारण हो सो बात नहीं।

इस स्कूलमें उत्पात कुछ भी नहीं था, फिर भी आखिर था तो स्कूल ही। उसके कमरे निर्मम और दीवारें प्रहरी जैसी लगती थीं; उसमें घरके माफिक कुछ भी नहीं थे, ऐसा लगता था जैसे बहुतसे खाने-खुदा एक बड़ा बक्स हो। कहीं कोई सजावट नहीं, रंग नहीं और; न लड़कोंके हृदय आकर्षित करनेकी कोई कोशिश ही थी। लड़कोंके मनमें 'अच्छा लगना' नामकी एक बड़ी-भारी वस्तु है, विद्यालयसे इस विचारको बिलकुल निर्वासित कर दिया गया था। यही वजह थी कि ड्योढ़ी पार करके उसके संकीर्ण आंगनमें पैर रखते ही, उसी क्षण, सम्पूर्ण मन विमर्ष हो जाता था; और इसीलिए स्कूलके साथ मेरा जो भागनेका सम्बन्ध था उसमें कोई फर्क नहीं आया।

भागनेका एक सहारा मिल गया था। मेरे बड़े भ्रातृवृन्द एक सज्जनसे फारसी पढ़ा करते थे, वे मुंशी कहलाते थे, नाम याद नहीं। प्रौढ़ व्यक्ति थे, अस्थि और और चर्मके सिवा उनमें और कुछ भी नहीं था। उनके कंकालको मानो एक काले मोमजामेसे मढ़ दिया गया था, उसमें न रस था, न चरबी। फारसी शायद वे अच्छी ही जानते होंगे, और अंग्रेजी भी काम-चलाऊ आती थी, पर उस दिशामें यश पानेकी कोशिश उनमें नामको भी नहीं थी। उनकी यह धारणा थी कि लाठी चलानेमें उनमें जैसी आश्चर्यजनक निपुणता है, संगीत-विद्यामें भी वे वैसे ही पारदर्शी हैं। हमारे आंगनमें धूपमें खड़े होकर वे नाना प्रकारकी विचित्र भंगिमामें लाठीका खेल दिखाया करते थे, अपनी छाया ही उनकी प्रतिद्वन्द्वी थी। कहना फजूल है कि उनकी छाया कभी भी उनसे जीत नहीं पाती थी; और हुंकारके साथ उसपर लाठी मारकर जब वे जय-गर्वसे मुसकुराने लगते तब वह म्लान होकर उनके पैरोंके पास चुपचाप पड़ी रहती। और, उनका नाकके सुरमें बेसुरा गाना प्रेतलोकका राग जैसा सुनाई देता,— वह प्रलाप-विलाप-मिश्रित एक विभीषिका-सी थी। हमारे यहांके गायक विष्णु कभी-कभी उनसे कहा करते थे, "मुन्शीजी, आप मेरी

रोजी मार देंगे।" मुन्शीजी इसका कोई जवाब न देकर अत्यन्त अवज्ञाके साथ हँस देते।

इससे समझ सकते हैं कि मुन्शीजीको खुश करना ज्यादा कठिन न था। हम उन्हें घेर लेते तो वे उसी वक्त हमारी तरफसे छुट्टीकी जरूरत बताकर स्कूलके अध्यक्षके नाम चिट्ठी लिख देते। विद्यालयके अध्यक्ष ऐसे पत्रपर ज्यादा सोच-विचार न करते थे; कारण, उन्हें निश्चित मालूम था कि हम स्कूल आयें या न आयें, उससे हमारे विद्यार्जनमें कोई खास फर्क नहीं आ सकता।

अब, हमारा अपना एक विद्यालय है, शान्तिनिकेतनका ब्रह्मचर्याश्रम; और वहाँ विद्यार्थीवर्ग नाना प्रकारके अपराध किया करते हैं; कारण, अपराध करना विद्यार्थियोंका और क्षमा न करना शिक्षकोंका धर्म है। अब, अगर हममेंसे कोई छात्रोंके व्यवहारसे क्रुद्ध और भीत होकर विद्यालयके अमंगलकी आशंकासे असहिष्णु होते हैं और उन्हें उसी क्षण कठोर दण्ड देनेके लिए व्यस्त हो उठते हैं, तो मेरे अपनी छात्र-अवस्थाके समस्त पाप एक कतारमें खड़े होकर मेरे मुँहकी तरफ देखते-हुए हँसते रहते हैं।

मैं अच्छी तरह समझ सकता हूँ कि लड़कोंके अपराधको हम बड़ोंके पैमानेपर मापा करते हैं; और यह भूल जाते हैं कि छोटे लड़के झरनेके समान वेगसे चलते हैं, वह पानी अगर दोषोंका स्पर्श करता है तो उसमें हताश होनेका कोई कारण नहीं, क्योंकि सचलतामें सभी दोषोंका सहज प्रतिकार मौजूद है। वेग जहाँ रुकता है वहीं खतरा है, और वहाँ सावधान होना ही चाहिए। इसलिए, शिक्षकोंको अपराधसे जितना डरना चाहिए, छात्रोंको उतना नहीं।

जातिकी रक्षाके लिए भारतीय छात्रोंका एक अलग जलपानका कमरा था। उस कमरेमें दो-चार छात्रोंसे मेरा परिचय हुआ। उनमेंसे सभी हमलोगोंसे उमरमें काफी बड़े थे। उनमें एक लड़केको 'काफी' रागिनी बहुत प्यारी थी; और उससे भी ज्यादा प्यार था ससुरालकी किसी-एक विशेष व्यक्तिसे; लिहाजा वह उस रागिनीको अकसर अलापा करता था और इसीलिए अलापको भी विराम नहीं मिलता था।

और-एक छात्रके विषयमें कुछ विस्तारसे कहा जा सकता है। उसकी विशेषता

यह था कि उसमें मैजिकका शौक बहुत ज्यादा था। यहाँ तक कि मैजिकके विषयमें उसने एक छोटी-सी किताब छपाकर अपनेको 'प्रोफेसर'की उपाधिसे विभूषित कर लिया था। छपी किताबमें अपना नाम छपाया हो ऐसे विद्यार्थीको इसके पहले मैंने कभी नहीं देखा। इसलिए मैजिक-विद्याके सम्बन्धमें उसके प्रति मेरी गहरी श्रद्धा थी। कारण, छापेके अक्षरोंकी पंक्तिमें किसी तरहका झूठ चल सकता है, इसकी मैं कल्पना ही नहीं कर सकता था। अब तक छापेके अक्षर हमलोगोंपर गुरुआई करते आये हैं, इसलिए उसके प्रति मेरा विशेष सम्भ्रम था। जो स्याही पुछती नहीं, उस स्याहीमें अपनी रचना छपना — यह क्या कम बात है! कहीं भी उसमें ओट नहीं, कुछ भी छिपाव नहीं; दुनियाके आगे कतारसे खड़े होकर उसे आत्म-परिचय देना होगा, भागनेका रास्ता बिलकुल बन्द है,— इतने बड़े अविचलित आत्मविश्वासको विश्वास न करना ही कठिन है। खूब याद है मुझे, ब्राह्मसमाजके छापेखानेसे हो या और-कहींसे एक बार अपने नामके दो-चार छापेके अक्षर मिल गये थे। उनमें स्याही लगाकर कागजपर दबाते ही जब उसकी छाप पड़ने लगी तो वह मुझे एक स्मरणीय घटना-सी मालूम हुई थी।

उस सहपाठी ग्रन्थकार मित्रको रोज हमलोग अपनी गाड़ीमें बिठाकर स्कूल ले जाया करते थे। इस तरह सर्वदा ही उसका हमारे घर आना-जाना होने लगा। नाटक-अभिनयके विषयमें भी उसके काफी उत्साह था। उसकी सहायतासे, हमारे कुश्तीके अखाड़ेमें, एक बार हमलोगोंने कुछ खपचियाँ गाड़कर, उनपर कागज चुपकाकर, नाना रंगके चित्र बनाकर एक स्टेज खड़ा किया था। शायद ऊपरवालोंकी मनाहीके कारण उस स्टेजपर कोई अभिनय न हो सका था।

किन्तु बिना स्टेजके ही एक दिन एक प्रहसन अभिनीत हुआ था। उसका नाम दिया जा सकता है 'भ्रान्तिविलास।' जो उस प्रहसनके रचयिता हैं, पाठकोंको उनका परिचय पहले कुछ-कुछ मिल चुका है। नाम है सत्यप्रसाद। उनकी आजकी शान्त सौम्य मूर्ति जिन्होंने देखी है वे कल्पना नहीं कर सकते कि बाल्यकालमें कौतुकच्छलसे वे सब प्रकारके अघटन घटानेमें कैसे उस्ताद थे।

जिस समयकी बात लिख रहा था, यह घटना उसके बादकी है। तब मेरी उमर शायद बारह-तेरह सालकी होगी। हमारा वह 'प्रोफेसर' मित्र द्रव्यगुणके

विषयमें हमेशा ऐसी-ऐसी आश्चर्यजनक बातें बताया करता कि उन्हें सुनकर मैं बिलकुल दंग रह जाता; और परीक्षा कर देखनेके लिए मेरे इतनी उत्सुकता पैदा होती कि मैं अधीर हो उठता। किन्तु वे द्रव्य प्रायः ऐसे दुर्लभ होते कि सिन्धवाद नाविकका पीछा किये बिना उनके पानेका कोई उपाय नहीं था। एक बार, अवश्य ही असावधानीसे, प्रोफेसरने किसी-एक असाध्य-साधनका अपेक्षाकृत सहज मार्ग बता दिया, और उसे मैं आजमानेके लिए तैयार हो गया। मनसासिजका गोंद इक्कीस बार किसी बीजपर लगाकर सुखा लेनेसे ही उस बीजसे एक घंटेके अन्दर पेड़ होकर उसमें फल लग सकते हैं, यह किसे मालूम था! किन्तु जिस प्रोफेसरने छापेकी किताब निकाली हो उसकी बात एकाएक अविश्वास करके उड़ाई भी नहीं जा सकती थी।

हमलोगोंने अपने बगीचेके मालीके मारफत कुछ दिन तक काफी मिकदारमें मनसासिजका गोंद इकट्ठा किया, और एक आमकी गुठलीपर परीक्षा करनेके लिए रविवारकी छुट्टीके दिन हमलोग अपने निभृत रहस्य-निकेतन तीसरी मंजिलकी छतपर जा उपस्थित हुए।

मैं तो एकाग्र चित्तसे गुठलीपर गोंद लगा-लगाकर सुखाने लगा,– उसमें कैसे फल लगे थे, मुझे मालूम है, आशा है वयस्क पाठक उस विषयमें कोई प्रश्न न करेंगे। किन्तु सत्यप्रसादने तीसरी मंजिलके किसी एक कोनेमें एक घंटेके अन्दर डाल-पत्तों समेत एक विचित्र माया-तरुकी सृष्टि कर डाली है, इसका मुझे कुछ भी पता नहीं था। उसका फल भी बड़ा विचित्र हुआ।

इस घटनाके बादसे प्रोफेसर संकोचके साथ मेरा संग छोड़ता जा रहा है, इस बातपर बहुत दिनों तक मेरा ध्यान नहीं गया। गाड़ीमें मेरे पास वह नहीं बैठता, सर्वत्र ही वह मुझसे दूर-दूर रहने लगा।

एक दिन अचानक दोपहरको हमारे पढ़नेके कमरेमें आकर उसने प्रस्ताव किया, 'आओ, इस बेन्चपरसे कूदकर देखें कि कौन कैसा कूदता है।' मैं सोचने लगा, संसारके अनेक रहस्य ही प्रोफेसरके जाने हुए हैं, शायद कूदनेके विषयमें भी कोई गूढ़ तत्त्व उसे मालूम हो। सभी कूदे, मैं भी कूदा। प्रोफेसरने एक अन्तर-

सब 'हूँ' कहकर गम्भीरतासे सिर हिलाया। बहुत अनुनय करनेपर भी इससे ज्यादा स्पष्टतर कोई वाणी उससे नहीं निकाली जा सकी।

एक दिन उस जादूगरने कहा, 'एक सम्भ्रान्त घरके लड़के तुमलोगोंसे आलाप-परिचय करना चाहते हैं, एक बार उनके घर चलना होगा।' अभिभावकोंने आपत्ति का कोई कारण नहीं देखा; और हमलोग वहाँ गये।

कुतूहलियोंकी भीड़से घर भर गया। सभी मेरा गाना सुननेके लिए आग्रह प्रकट करने लगे। मैंने दो-एक गाना गाया। तब मेरी उमर कम थी, कण्ठस्वर भी सिंह-गर्जनके समान सुगम्भीर नहीं था। बहुतोंने सिर हिलाकर कहा, 'हाँ, गला तो बहुत मीठा है।'

उसके बाद जब मैं खाने बैठा तो सबके सब घिरकर मेरी आहारपद्धति देखने लगे। इसके पहले बाहरके लोगोंमें मैं बहुत कम मिला था, लिहाजा स्वभावमें सकोच था। इसके सिवा, पहले ही जता चुका हूँ कि हमारे ईश्वर नौकरकी लोलुप-दृष्टिके सामने खाते-खाते कम खानेकी ही मेरी हमेशाकी आदत बन गई थी। उस दिन मेरे खानेमें सकोच देखकर सभी दर्शकोंने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया। उस दिन जैसी सूक्ष्मदृष्टिसे सबोंने एक निमन्त्रित बालकके कार्यकलापका निरीक्षण किया था, वह अगर स्थायी और व्यापक होता, तो निस्सन्देह इस देशमें प्राणि-विज्ञानकी असाधारण उन्नति हो गई होती।

इसके कुछ ही दिन बाद पंचमाकमें जादूगरसे जो दो-एक विचित्र पत्र मिले, उससे सारा भेद साफ समझमें आ गया। उसके बाद फिर यवनिका गिर गई।

बादमें सत्यप्रसादसे सुना कि एक दिन, आमकी गुठलीमें जादू प्रयोग करते समय, उसने प्रोफेसरको समझा दिया था कि विद्या-शिक्षाकी सुविधाके लिए मेरे अभिभावक मुझे बालक-वेशमें विद्यालय भेज रहे थे, किन्तु वह मेरा छद्मवेश है। जो लोग स्वकपोल-कल्पित वैज्ञानिक आलोचनामें कौतूहली हैं उन्हें यह बात बता रखना उचित है कि कूदनेकी परीक्षामें मैंने बायाँ पैर पहले बढ़ाया था; और वह पदक्षेप मेरी कितनी बड़ी भूल थी, सो उस दिन मुझे नहीं मालूम हुई।

पितृदेव

मेरे जन्मके कई साल पहलेसे ही मेरे पिता[1] प्रायः देश-भ्रमण करते रहते थे। बाल्यकालसे वे मेरे लिए अपरिचित-से ही थे। बीच-बीचमें वे सहसा कभी घर आया करते थे; साथमें परदेसी नौकर लाते थे। उन नौकरोंके साथ मेल करनेको मेरा मन बड़ा उत्सुक रहा करता। एक बार लेनू नामका कम-उमरका एक पंजाबी नौकर उनके साथ आया था। उसने हमलोगोंमें जितना समादर पाया था उतना स्वयं रणजितसिंहके लिए भी कम न होता। वह एक तो परदेसी, उसपर पंजाबी था; इतनेसे ही उसने हमारा मन हरण कर लिया था। पुराणमें भीम-अर्जुनके प्रति जैसी श्रद्धा थी, इस पंजाबी-जातके प्रति भी हमारे मनमें वैसी ही एक प्रकारकी इज्जत थी। ये लोग योद्धा हैं,– किसी-किसी लड़ाईमें हारे जरूर हैं, किन्तु उसे भी हमलोगोंने शत्रुपक्षका ही अपराध समझा है। उसी जातके लेनूको अपने घरमें पाकर मन-ही-मन फूले न समाते थे। भाभी-रानीके[2] कमरेमें काँचके आवरणसे ढका एक खेलका जहाज था, उसमें चाभी भरते ही रंगीन कपड़ेमें लहरें उठने लगती थीं और जहाज आर्गिन-बाजेके साथ हिलने लगता था। बहुत अनुनय-विनय करके उस आश्चर्यमय जहाजको भाभी-रानीसे माँग लाता और उससे कभी-कभी उस पंजाबीको दंग कर दिया करता था। घरके पिंजड़ेमें बन्द होनेके कारण जो-कुछ भी बाहरका होता, जो-कुछ भी दूर-देशका होता, वही मेरे मनको आकर्षित करता रहता। यही वजह है कि लेनूको पाकर मेरा चित्त इतना उतावला हो उठता था। इसीसे, गब्रिएल नामका एक यहूदी अपनी घुडीदार पोशाक पहनके जब अतर बेचने आता तब मेरा मन चंचल हो उठता; और इसीलिए ढीला मैला पाजामा पहने विपुलकाय झोलीवाला काबुली भी मेरे लिए भीति-मिश्रित 'रहस्यकी वस्तु' था।

कुछ भी हो, पिताजी जब घर आते थे, हमलोग उनके आसपाससे दूर उनके

[1] महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५ ई०)

[2] कादम्बरी (कादम्बिनी) देवी, ज्योतिरिन्द्रनाथकी पत्नी।

नौकर-चाकरोंमें घूम-फिरकर अपना कुतूहल मिटा लिया करते थे। खुद उनके पास पहुँचनेका मौका ही न आता था।

मुझे खूब याद है, हमारे बचपनमें किसी समय अंग्रेज-सरकारके चिरकालिक 'हौआ' रशियनों-द्वारा भारत-आक्रमणकी आशंका लोगोंके मुँह सुननेमें आती थी। किसी हितैषिणी आत्मीयाने मेरी माके आगे उस आसन्न सम्भावनाको मनमाना पल्लवित और पुष्पित करके ऐसा वर्णन किया कि मा विचलित हो उठीं। पिताजी तब (१८६८-७०) पहाड़पर थे। तिब्बतको लाँघकर हिमालयके किस छिद्र-पथसे रूसी लोग सहसा धूमकेतुकी तरह प्रगट होंगे, कौन कह सकता है! इसलिए माका मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठा। अवश्य ही घरवालोंमेंसे किसीने उनकी इस उत्कंठाका समर्थन नहीं किया था। माने इसी वजहसे, परिणत-वयस्कोंमेंसे किसीकी मदद न मिलनेसे, हताश होकर अन्तमें मुझ बालकका आश्रय लिया। उन्होंने मुझसे कहा, "रूसियोंकी खबर जताकर तुम अपने पिताको एक चिट्ठी तो लिखो।" पिताके लिए माताका उद्वेग-वाहक यही मेरा पहला पत्र था। कैसे पत्र लिखा जाता है, क्या करना पड़ता है, कुछ भी मुझे नहीं मालूम था। मैं दफ्तरके महानन्द मुंशीके शरणापन्न हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पत्र लिखा ठीक ही गया था, किन्तु उसकी भाषामें जमींदारी सिरिश्तेकी सरस्वती जिस जीर्ण कागजके शुष्क कमलदलपर विहार करती है उसकी गन्ध थी। इस पत्रका उत्तर मिला था। उसमें पिताजीने लिखा था, 'डरनेका कोई कारण नहीं,— रशियनोंको वे खुद ही भगा देंगे।' ऐसी प्रबल आश्वास-वाणीसे भी माताकी रशियन-भीति कुछ दूर हुई हो, ऐसा मुझे नहीं लगा, किन्तु पिताके सम्बन्धमें मेरा साहस बहुत बढ़ गया। उसके बादसे रोज ही मैं उन्हें पत्र लिखनेके लिए महानन्दके दफ्तरमें हाजिर होने लगा। बालकके उपद्रवसे अस्थिर होकर कई दिन महानन्दने मसौदा लिखा दिया। पर महसूल कहाँसे आये? मनमें धारणा थी कि महानन्दके हाथ पत्र समर्पण करनेके बाद बाकीके दायित्वके विषयमें मुझे कुछ चिन्ता करनेकी जरूरत ही नहीं, पत्र अनायास ही यथास्थान पहुँच जायगा। कहनेकी जरूरत नहीं कि महानन्दकी उमर मुझसे बहुत ज्यादा थी, और मेरे वे पत्र हिमाचल-शिखर तक नहीं पहुँचते थे।

बहुत दिन प्रवासमें रहकर पिताजी जब थोड़े दिनोंके लिए कलकत्ता आते थे तब उनके प्रभावसे सारा मकान गम्भीर हो जाया करता था। मैं देखता कि गुरुजन भी लम्बा अंगरखा पहनकर, संयत और परिच्छन्न होकर, मुंहमें पान होता तो उसे बाहर थूककर उनके पास जाया करते थे। सब-कोई सावधान होकर रहते थे। रसोईमें कोई त्रुटि न हो इसके लिए मा स्वयं रसोईघरमें मौजूद रहती थी। वृद्ध किनू चपरासी अपनी तमगेवाली पगड़ी और सफेद चपकन पहनकर दरवाजेपर हाजिर रहता। हमलोग बरंडेमें शोरगुल या दौड़धूप करके उनकी शान्ति भंग न कर सकें, इसके लिए पहलेसे ही हमें सावधान कर दिया गया था। हमलोग धीरे-धीरे चलते, आहिस्ते-आहिस्ते बोलते, यहाँ तक कि झाँककर देखनेका भी साहस न करते।

एक बार पिताजी आये हम तीनोंका उपनयन-संस्कार करानेके लिए। वेदान्तवागीश आनन्दचन्द्रकी सहायतासे उन्होंने वैदिक मन्त्रोंमेंसे उपनयनका अनुष्ठान स्वयं संकलन कर लिया। कितने ही दिनों तक पिताजीके मित्र बेचाराम बाबू रोज हमलोगोंको दालानमें बिठाकर ब्राह्म-धर्मग्रन्थमें संगृहीत उपनिषद्के मंत्र विशुद्ध रीतिसे बारंबार दुहरवाते रहे। यथासम्भव प्राचीन वैदिक पद्धति अनुसरण करके हमारा उपनयन-संस्कार सम्पन्न (माघ, १९२९) किया गया। सिर मुड़ाकर, वीरबलियाँ पहनकर, हम तीनों बटुक तीन दिनके लिए तीसरी मंजिल के एक कमरेमें आबद्ध रहे। उसमें हमलोगोंको बड़ा मजा आया। हमलोग परस्पर एक दूसरेका कुण्डल पकड़कर खींचा करते। उस कमरेमें एक बायाँ तबला पड़ा था,— बरंडेमें खड़े हुए जब देखते कि नीचेकी मंजिलमें कोई नौकर चला जा रहा है तब धपाधप तबला पीटने लगते ; और उसकी दृष्टि हमारे मुहपर पड़ते ही अपना अपराध समझकर, उसी क्षण, वह सिर नीचा करके भाग खड़ा होता। वस्तुतः गुरुगृहमें ऋषि-बालकोंको जिस तरह कठोर संयममें दिन काटनेकी बात थी, हमलोगोंके उस तरह दिन नहीं कटे। मेरा विश्वास है, प्राचीन कालके तपोवनकी खोज की जाती तो हम जैसे लड़के भी वहाँ मिल सकते थे। वे बहुत ज्यादा भलेमानस थे, इसका कोई प्रमाण नहीं। शारद्वत और शार्ङ्गरवकी उमर जब दस-बारह वर्षकी थी तब वे केवल वेदमंत्र उच्चारण करके अग्निमें आहुतियाँ

देकर दिन बिताते थे — यह बात अगर किसी पुराणमें लिखी हो, तो उसपर हम आद्यन्त विश्वास करनेको बाध्य नहीं; कारण 'शिशु-चरित्र' नामक पुराण सब पुराणोंसे पुरातन है। उसके समान प्रामाणिक पुराण किसी भी भाषामें नहीं लिखा गया।

नवीन-ब्राह्मण होनेके बाद गायत्री-मंत्र जपनेकी तरफ मेरा जबरदस्त झुकाव हुआ। मैं विशेष यत्नके साथ एकाग्र मनसे उक्त मंत्रको जपनेकी कोशिश करता। मगर ऐसा नहीं था कि उस उमरमें मैं उसका ठीक तात्पर्य ग्रहण कर सकता। मुझे अच्छी तरह याद है, मैं 'भूर्भुवः स्वः' इस अंशका अवलम्बन करके मनको अच्छी तरह प्रसारित करनेकी कोशिश करता रहता। क्या समझता और क्या सोचता, सो स्पष्ट कहना कठिन है, किन्तु इतना निश्चित है कि शब्दके मानी समझना ही मनुष्यके लिए सबसे बड़ी बात नहीं। शिक्षाका सबसे बड़ा अंग 'समझा देना' नहीं, बल्कि 'मनमें आघात करना' है। उस आघातके भीतर जो चीज बज उठती है, अगर किसी बालकसे उसकी व्याख्या करनेको कहा जाय तो वह जो-कुछ कहेगा वह महज एक लड़कपन जैसी ही कोई चीज होगी। परन्तु जो बात वह मुहसे कह सकता है उससे उसके मनमें ध्वनित कहीं ज्यादा होता है। जो लोग विद्यालयकी शिक्षकता करके केवल परीक्षाके द्वारा ही सम्पूर्ण फल निर्णय करना चाहते हैं वे इस चीजकी कोई खबर ही नहीं रखते। मुझे याद है, बचपनमें बहुतसी बातें मेरी समझमें नहीं आती थीं, किन्तु वे मेरे मनमें जाकर आन्दोलन खड़ा कर देती थीं। मेरे अत्यन्त शिशुकालमें, मूलाजोड़में गंगा-किनारेके बगीचेमें, एक दिन मेघोदयके समय बड़े भाई साहब छतपर बैठे 'मेघदूत' पढ़ रहे थे, मुझे उसके समझनेकी जरूरत नहीं हुई और न समझनेका कोई उपाय ही था, असलमें उनका आनन्द और आवेगपूर्ण छन्द-उच्चारण ही मेरे लिए यथेष्ट था। बचपनमें जब कि अंग्रेजी मैं कुछ भी नहीं जानता था, तब बहुत-सी तसवीरोंवाली एक किताब 'ओल्ड क्युरि-ओसिटी शॉप' लेकर मैंने शुरूसे आखिर तक पढ़ डाली थी। उसका मैं पन्द्रह-आना हिस्सा नहीं समझ सका था,— अत्यन्त अस्पष्ट छाया जैसी कोई चीज मनमें बनाकर, नाना रंगोंके छिन्न सूत्रोंमें गाँठ बाँधकर, उसीसे अपने मनमें तसवीरोंको गूंथ लिया था। अगर किसी परीक्षकके हाथ पड़ता तो एक बड़ा शून्य पाता, इसमें सन्देह

नहीं, किन्तु मेरे लिए वह पढ़ना उतना बड़ा शून्य नहीं हुआ। बाल्यकालमें एक बार पिताजीके साथ गंगामें बोटपर घूमते समय मैंने उनकी किताबोंमें एक बहुत ही पुराना फोर्ट विलियम द्वारा प्रकाशित 'गीतगोविन्द' देखा था। बंगला अक्षरोंमें गद्य जैसा छपा था, छन्दके अनुसार उसमें पदोंका कोई विभाजन नहीं था। मैं तब संस्कृत बिलकुल नहीं जानता था। बंगला अच्छी आती थी इसलिए बहुतसे शब्दोंका अर्थ समझ सकता था। उस 'गीतगोविन्द'को मैंने कितनी बार पढ़ा होगा, कुछ कह नहीं सकता। उसमें जयदेवने जो-कुछ कहना चाहा हैं उसे मैंने बिलकुल ही नहीं समझा, किन्तु छन्द और शब्दोंने मिलकर मेरे मनमें जो चीज गूंथना शुरू कर दी थी वह मेरे लिए मामूली चीज नहीं थी। मुझे याद है, 'निभृत-निकुंजगृहं गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम्' यह पंक्ति मेरे मनमें एक विशिष्ट सौन्दर्यका उद्रेक करती थी। छन्दकी झकारके आगे 'निभृत-निकुंजगृहं' यह एक शब्द ही मेरे लिए बहुत था। पुस्तक गद्यके ढंगमें छपी होनेसे जयदेवके विचित्र छन्दोंका अपनी कोशिशसे आविष्कार करना पड़ता था, और यही मेरे लिए सबसे बढ़कर आनन्दका काम था। जिस दिन मैं 'अहह कलयामि वलयादिमणिभूषण हरिविरहदहनवहनेन बहुदूषणम्' — इस पदको ठीक तौरसे यति रखकर पढ सका उस दिन इतनी खुशी हुई थी कि कह नहीं सकता। जयदेवको पूरा समझना तो दूर रहा, अधूरा समझना जिसे कहते हैं वह भी नहीं, फिर भी सौन्दर्यसे मेरा मन इतना भर उठा था कि शुरुसे आखिर तक सम्पूर्ण 'गीतगोविन्द'को मैंने एक कापीपर नकल कर ली थी। और-भी जरा बड़ी उमरमें 'कुमारसम्भव'का यह श्लोक पढ़कर मन उन्मत्त हो उठा था—

मन्दाकिनीनिर्झरशीकराणां
वोढा मुहुः कम्पित देवदारु
यद्वायरन्विष्टमृगैः किरातै-
आसेव्यते भिन्न शिखण्डिवर्हः।

मैं विशेष कुछ नहीं समझा, किन्तु केवल 'मन्दाकिनीनिर्झरशीकर' और 'कम्पित देवदारु' इन दो ही शब्दोंने मेरे मनको मोह लिया था। सम्पूर्ण श्लोकका रस लेनेके लिए मन व्याकुल हो उठा। और, पंडितजीने जब पूरा अर्थ समझा दिया

तो मन खराब हो गया। *'मृग-अन्वेषण-तत्पर किरातके सिरपर जो मयूर-पुच्छ हैं पवन उसे चीर-चीरकर विभक्त कर रहा है'* — यह सूक्ष्मता मुझे अत्यन्त पीड़ा देने लगी। इससे तो जब पूरा नहीं समझा था तभी अच्छा था।

अपने बचपनकी बातें जिन्हें अच्छी तरह याद हैं वे इस बातको समझेंगे कि *आद्यन्त सब-कुछ स्पष्ट समझ जाना ही सबसे बढ़कर लाभ नहीं है।* हमारे देशके कथक इस तत्त्वको जानते थे, इसीलिए कथाओंमें ऐसे अनेक बड़े-बड़े कान भर देनेवाले संस्कृत शब्द होते हैं और उनमें ऐसी तत्त्वकथाएँ भी अनेक होती हैं जिन्हें श्रोता कभी भी स्पष्ट समझ नहीं पाते किन्तु आभास पाते हैं। इस आभास पानेका मूल्य कम नहीं। *जो लोग शिक्षाके हिसाबका जमा-खर्च बनाकर नफा-नुकसानका* मीजान मिलाया करते हैं वे ही बैठे-बैठे कम निकाला करते हैं कि 'जो-कुछ दिया गया, उसे समझा या नहीं।' बच्चे, और जो अत्यन्त शिक्षित नहीं वे ज्ञानके जिस प्रथम स्वर्गलोकमें वास करते हैं वहाँ मनुष्यको बिना समझे ही मिलता है; और *उस स्वर्गसे जब पतन होता है तब 'समझकर पाने'के दुःखके दिन शुरू हो जाते हैं।* असलमें, जगतमें न-समझके पानेका रास्ता सदा-सर्वदा ही सबसे बड़ा रास्ता है। वह रास्ता जब बिलकुल बन्द हो जाता है तब, संसारके मुहल्लेमें हाट-बाजार बन्द न होनेपर भी, समुद्रके किनारे पहुँचनेका उपाय नहीं रह जाता, और पर्वतके शिखरपर चढ़ना भी असम्भव हो जाता है।

इसीसे कह रहा था कि गायत्री-मन्त्रका कोई तात्पर्य मैं उस उमरमें समझता होऊँ सो बात नहीं, किन्तु मनुष्यके भीतर ऐसा एक-कुछ है, सम्पूर्ण न समझनेपर भी जिसका काम चल जाता है। इसीसे, एक दिनकी बात मुझे याद आती है। अपने पढ़नेके कमरेमें एक कोनेमें बैठा मैं गायत्रीका जाप कर रहा था कि सहसा मेरी आँखोंमेंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। क्यों आँसू बह रहे हैं, सो मैं कुछ भी न समझ सका। ऐसी हालतमें मैं किसी कठोर परीक्षकके हाथ पड़ जाता तो मूढ़की तरह ऐसा कोई कारण बता देता जिसका गायत्री-मन्त्रके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं। असल बात यह है, अन्तरात्माके अन्तःपुरमें जो काम चल रहा है, बुद्धिके क्षेत्रमें हर वक्त उसका संवाद आकर नहीं पहुँचता।

उपवीतमें सिर मुड़ाकर बड़ी चिन्तामें पड गया, अब स्कूल कैसे जाऊँगा। गो-जातिके प्रति फिरंगी लड़कोंका आन्तरिक आकर्षण चाहे जैसा हो, ब्राह्मणोंके प्रति उनके भक्ति तो होती नहीं। लिहाजा, घुटे सिरपर वे और कोई चीज अगर न भी बरसावें तो कमसे कम हास्य-वर्षण तो करेंगे ही।

ऐसी दुश्चिन्ताके समय एक दिन तीसरी मंजिलमें मेरी पुकार हुई। पिताजीने पूछा, मैं उनके साथ हिमालय जाना चाहता हूँ या नहीं। 'चाहता हूँ' यह बात अगर मैं जोरसे आकाशभेदी स्वरमें कह सकता तो मनके भावके अनुकूल उत्तर देता। कहाँ बंगाल एकाडेमी, और कहाँ हिमालय!

घरसे यात्रा करते समय पिताजीने अपनी चिराचरित रीतिके अनुसार सब घरवालोंको इकट्ठा करके दालानमें उपासना की। गुरुजनोंको प्रणाम करके पिताके साथ मैं गाड़ीपर सवार हुआ। मेरी उमरमें पहले-पहल मेरे लिए पोशाक बनी। कौनसा कपड़ा किस रंगका हो, स्वयं पिताजीने उसके लिए आदेश दिया था। सिरके लिए जरीदार मखमलकी एक गोल टोपी बनी थी। वह मेरे हाथमें थी, कारण घुटे-हुए सिरपर टोपी पहननेमें भीतरसे मुझे आपत्ति थी। गाडीमें बैठते ही पिताजीने कहा, "इसे पहन लो।" पिताजीके समक्ष यथारीति परिच्छन्नतामें किसी तरहकी त्रुटि रखना किसीके लिए भी सम्भव न था। लज्जित मस्तकपर टोपी पहननी ही पड़ी। रेलगाड़ीमें जरासा मौका पाते ही टोपी खोलकर रख देता। किन्तु पिताकी दृष्टिको एक बार भी धोखा न दे सका। उसी वक्त फिर उसे यथास्थान रखना पड़ता।

पिताजीकी छोटीसे लेकर बड़ी तक समस्त कल्पनाएँ और कार्य अत्यन्त यथायोग्य थे। वे अपने मनमें किसी चीजको धुँधला नहीं देख सकते थे, और उनके कार्यमें भी जैसे-तैसे सम्पन्न करनेका कोई भाव नहीं था। उनके प्रति दूसरोंके और दूसरोंके प्रति उनके समस्त कर्तव्य अत्यन्त सुनिर्दिष्ट थे। हमारा जातिगत स्वभाव काफी ढीलाढाला है। थोडा-बहुत इधर-उधर होनेको हम किसी त्रुटिमें नहीं गिनते। इसीलिए उनके साथ व्यवहारमें हम सबको अत्यन्त भीत और सतर्क रहना पड़ता था। उन्नीस-बीस होनेसे सम्भव है कि कुछ नफा-नुकसान न हो,

किन्तु उनकी व्यवस्थामें जो तिलमात्र फरक पड़ता था उसमें उन्हें चोट पहुँचती थी। वे जिस बातका संकल्प करते थे उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंगको अपने मनश्चक्षु से स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष कर लेते थे। यही कारण है कि किसी क्रिया-कर्ममें कौनसी चीज कहाँ रहेगी, कौन कहाँ बैठेगा, किसपर कौनसे कामका कितना भार रहेगा, सब-कुछ वे आपने मनमें तय कर लेते थे ; और किसी भी हालतमें वहाँ कुछ भी उससे अन्यथा नहीं होने देते थे। उसके बाद जब वह काम हो जाता था तब नाना लोगोंसे उसका विवरण सुनते थे। प्रत्येक वर्णनको मिलाकर और अपने मनमें उसे जोड़कर उस घटनाको वे स्पष्टरूपमें देखनेकी कोशिश करते थे। इस सम्बन्ध में हमारे देशका जातिगत धर्म उनमें बनई नहीं था। उनके संकल्प और विचारों में, आचरण और अनुष्ठानोंमें तिलमात्र भी कहीं कोई शिथिलताकी गुंजाइश नहीं रहती। यही वजह है कि हिमालय-यात्रामें जितने दिन उनके साथ रहा, एक ओर तो मुझे काफी स्वाधीनता थी और दूसरी ओर समस्त आचरण अलंघ्यरूपसे निर्दिष्ट थे। जहाँ वे छुट्टी देते वहाँ वे किसी भी कारणसे कोई भी बाधा नहीं देते थे; और जहाँ वे नियम बाँध देते वहाँ रंचमात्र भी छिद्र नहीं रखते थे।

यात्राके आरम्भमें पहले कुछ दिन बोलपुर रहनेकी बात थी। कुछ समय पहले अपने पिता-माताके साथ सत्यप्रसाद वहाँ गया था। उससे मैंने जो भ्रमण-वृत्तान्त सुना था, उन्नीसवीं सदीका कोई भी भद्र-घरका बालक उसपर किसी भी तरह विश्वास नहीं कर सकता था। किन्तु हमारे उस जमानेमें सम्भव और असम्भव के बीच कहाँ सीमारेखा होती है इस बातकी परख मुझे नहीं थी। कृत्तिवास और काशीराम दासने इस विषयमें हमारी कोई सहायता नहीं की। बच्चोंके लिए प्रकाशित रंग-बिरंगी पुस्तकों और तसवीरोंवाले मासिकपत्रोंने सत्य-असत्यके संबंध में पहलेसे हमें सावधान भी नहीं किया था। संसारमें कड़े नियमोंकी जो एक बला है उसकी शिक्षा हमें ठोकर खानेके बाद ही मिली थी।

सत्यप्रसादने कहा था, 'विशेष दक्षताके बिना रेलगाड़ीमें चढ़ना एक भयंकर संकट है। पैर फिसला नहीं कि बस, फिर बचना ही मुश्किल है ! और फिर गाड़ी जब चलना शुरू कर दे तब शरीरकी पूरी ताकत लगाकर खूब जोरसे बैठना चाहिए, नहीं तो ऐसे जबरदस्त धक्के लगते हैं कि आदमी कहाँका मारा कहाँ छिटक

कर जा पड़े कोई ठिकाना नहीं।' स्टेशन पहुँचनेपर मनमें खूब डर लगने लगा। किन्तु गाड़ीपर इतनी आसानी चढ़ा कि मनमें सन्देह हुआ, शायद अभी गाड़ी-चढ़ने का असल काम बाकी ही है! उसके बाद जब अत्यन्त सरलतासे गाड़ी छूट गई तो कहीं भी संटका जरा भी आभास न पाकर मन उदास हो गया।

गाड़ी तेज रफ्तारसे चलने लगी ; तरुश्रेणीकी हरी पाड़से घिरे-हुए विस्तीर्ण मैदान और छायाच्छन्न गाँव गाड़ीके दोनों तरफ, तसवीरोंके दो झरनोंकी तरह, बड़ी तेजीसे दौड़ने लगे, मानो मारीचिकाकी बाढ़ बह रही हो। गाड़ी शामको (वि० १९२९) बोलपुर पहुंची। पालकीपर बैठते ही मैंने आँख मीच लीं। बस अब कल सवेरे बोलपुरका सम्पूर्ण विस्मय मेरी जाग्रत आँखोंके सामने प्रस्फुटित हो उठेगा, यही इच्छा थी मेरी। मध्याकी अस्पष्टतामें कुछ-कुछ आभास अगर आज मिल गया तो कलके अखण्ड आनन्दका रसभंग हो जायगा।

सवेरे उठकर कम्पित हृदयसे मैं बाहर आकर खड़ा हुआ। मेरे पूर्ववर्ती भ्रमणकारीने मुझसे कहा था, संसारके अन्यान्य स्थानोंके साथ बोलपुरका एक खास पार्थक्य यह है कि कोठीसे रसोईघरमें जानेके रास्तेमें यद्यपि किसी प्रकारका आवरण नहीं है, फिर भी शरीरपर धूप या वर्षा कुछ भी नहीं लगती। मैं इस विचित्र मार्गकी खोजमें निकल पड़ा। पाठक सुनकर हैरान होंगे कि आज तक मैं उसका पता नहीं लगा सका।

हमलोग शहरके लड़के ठहरे, पहले कभी धानके खेत नहीं देखे थे; और चरवाहे लड़कोंकी बात किताबमें पढ़कर उनकी बड़ी मनोहर कल्पना मानसपटपर अंकित कर रखी थी। सत्यप्रसादसे सुना था कि बोलपुरके मैदानोंमें चारों तरफ धानके खेत ही खेत दिखाई देते हैं, और वहाँ चरवाहे लड़कोंके साथ खेलना नित्तनैमित्तिक घटना है। धानके खेतोंसे चावल इकट्ठा करके भात बनाकर उन लड़कोंके साथ एकसाथ बैठकर खाना उस खेलका एक प्रधान अंग है।

व्याकुल होकर मैं चारों तरफ देखने लगा। किन्तु हाय, मरुप्रान्तरमें कहाँ तो वहाँ धानके खेत थे और कहाँ चरवाहे लड़कोंके साथ भात रांधकर एकसाथ खाना! गाय चरानेवाले लड़के मैदानमें कहीं हो तो हो सकते थे, पर उन्हें चरवाहे लड़कोंके रूपमें पहचाननेका कोई उपाय नहीं था।

जो नहीं देखा उसका खेद मिटनेमें विलम्ब न हुआ; जो-कुछ देखा वही मेरे लिए यथेष्ट था। यहाँ नौकरोंका शासन नहीं था। प्रान्तर-लक्ष्मीने दिक्चक्रवालमें नीली रेखाकी मात्र एक ही चहारदीवारी अंकित कर रखी थी, और वह मेरे अबाध-संचरणमें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पहुँचा रही थी।

यद्यपि मैं बहुत ही छोटा था, किन्तु फिर भी पिताजीकी तरफसे मेरे यथेच्छ विहारमें किसी प्रकारका प्रतिबन्ध नहीं था। बोलपुरके मैदानोंमें जगह-जगह वर्षाकी जलधाराने रेतीली मिट्टीका क्षय करके, प्रान्तरतलसे नीचे, लाल कंकड़ और नाना प्रकारके पत्थरोंसे खचित छोटी-छोटी शैलमालाएँ, गुहा-गह्वर और नदी-उपनदियोंकी रचना करके, बालखिल्योंके देशका भू-वृत्तान्त प्रकट कर रखा था। यहाँ टीलेवाली खाइयोंको 'खोआई' कहते हैं। मैं अपने कुरतेके अंचलमें नानाप्रकारके पत्थर संग्रह करके पिताजीके सामने पेश करता। उन्होंने मेरे इस अध्यवसायको तुच्छ समझकर कभी भी उसकी उपेक्षा नहीं की। वे उत्साह प्रकट करके कहते, "अरे! ये तो बड़े सुन्दर हैं! ये तुम्हें मिल कहाँसे गये?" मैं कहता, "ऐसे और-भी बहुतसे हैं वहाँ! सैकड़ों-हजारों! मैं रोज-रोज ला सकता हूँ।" वे कहते, "तब तो बड़ा अच्छा हो। इनसे तुम मेरे इस पहाड़को सजा देना।"

एक जगह तालाब खोदनेकी कोशिश की गई थी, पर जमीन बहुत कड़ी होनेसे वह अधूरा छोड़ दिया गया था। उस असमाप्त गड्ढेकी मिट्टी उठाकर दक्षिण किनारेपर पहाड़के अनुकरणमें एक ऊँचा स्तूप बना दिया गया था। पिताजी वहाँ रोज सवेरे चौकी बिछवाकर उपासना किया करते थे। उसके सामने पूर्वदिशाकी प्रान्तर-सीमामें सूर्योदय होता था। उस पहाड़को ही कंकड़-पत्थरोंसे सजानेके लिए उन्होंने मुझे उत्साहित किया था। बोलपुरसे रवाना होते वक्त उन ढेरके ढेर कंकड़-पत्थरोंको अपने साथ न ला सका, इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ। बोझ-मात्रमें लेने और महसूल चुकानेकी जिम्मेदारी होती है, इस बातको तब मैं नहीं समझता था; और 'चूँकि मैंने संग्रह किया है इसलिए उनके साथ सम्बन्ध कायम रख सकूँगा, इस बातका दावा नहीं किया जा सकता' — यह बात समझनेमें आज भी रुकावट आती है। मेरी उस दिनकी एकाग्र मनकी प्रार्थनापर विधाता अगर वर देते कि

'इस पत्थरके बोझको तुम चिरकाल ढोते रहोगे', तो इस बातपर आज इस तरह हँस नही सकता था।

न्हाईमें एक जगह जमीनमेंसे पानी निकलकर एक गहरे गड्ढेमें इकट्ठा होता था। यह पानी अपने वेष्टनको लाँघकर वालूमेंसे इधर-उधर झरनेकी तरह वहता था। छोटी-छोटी मछलियाँ उस जलकुण्डके मुंहके पास आकर स्रोतके विरुद्ध तैरनेकी स्पर्धा प्रकट करती रहती। मैंने पितासे जाकर कहा, "वड़ा अच्छा झरना देख आया हूँ, वहाँसे अपने नहाने और पीनेके लिए पानी लाया जाय तो वड़ा अच्छा हो।" उन्होंने मेरे उत्साहमें शरीक होते हुए कहा, "हाँ, हाँ, यह तो वडी अच्छी वात है।" और आविष्कारकको पुरस्कृत करनेके लिए वहीसे पानी मगानेकी व्यवस्था कर दी।

मैं जब-तब उस 'खोआई' की उपत्यका-अधित्यकामें किसी अभूतपूर्व वस्तुकी खोजमें घूमा करता। उस छोटेसे अज्ञात राज्यका मैं था लिविगस्टोन। मानो वह किसी दूरवीनकी उलटी तरफका देश हो। नदी-पहाड भी जितने छोटे-छोटे थे, इधर-उधर विक्षिप्त जगली-जामुन और जगली-खजूरके पेड़ भी उतने ही नाटे ठिगने थे। मेरे द्वारा आविष्कृत छोटी नदीकी मछलियाँ भी वैसी ही थीं; और आविष्कारकर्ताकी तो वात ही क्या !

पिताजी शायद मेरी होशियारीकी उन्नति करनेके लिए मुझे दो-चार आने पैसे देकर कहते, 'इसका हिसाव रखना होगा।' उसके वाद उन्होंने मुझपर अपनी वेशकीमती सोनेकी घडीमें चाभी भरनेका भार सौप दिया। इसकी उन्होने चिन्ता ही नही की कि इसमें नुकसान हो सकता है; मुझे दायित्वकी दीक्षा देना ही उनका अभिप्राय था। सवेरे जब घूमने निकलते तो मुझे साथ ले जाते। रास्तेमें भिखारी देखते तो मुझे भिक्षा देनेका आदेश देते। अन्तमें उनके सामने हिसाव देनेकी पारी आती तो हिसाव मिलता नही। एक दिन तो रोकड ही वढ़ गई। उन्होने कहा, "अव मुझे तुम्हीको रोकड़िया रखना पडेगा, तुम्हारे हाथमें मेरे रुपये वढने लगते हैं।" उनकी घड़ीमें मैं वड़े जतनसे नियमित-रूपसे चाभी भरता। 'जतन' कुछ जोरसे ही करता ; और उसका नतीजा यह होता कि घडी जल्द ही मरम्मतके लिए कलकत्ता भेजनी पडती।

यहाँ उमरमें कार्यका भार पाकर अब उनके समक्ष हिसाब देना पड़ता था, उसकी बात यहाँ याद आती है। उन दिनों वे (५२ नंबर) पार्क स्ट्रीटमें रहते थे। हर महीनेकी दूसरी और तीसरी तारीखको मुझे हिसाब बाँचकर सुनाना पड़ता था। तब वे खुद नहीं पढ़ सकते थे। गत महीने और गत वर्षसे तुलना करके सारे आय-व्ययका[1] विवरण उनके समक्ष उपस्थित करना पड़ता था। पहले मोटी-मोटी रकमें वे सुन लेते थे और मन-ही-मन उनका मीज़ान लगा लेते थे। उनके मनमें अगर कभी कोई असंगति प्रतीत होती तो छोटी-छोटी रकमें भी सुनानी पड़ती थीं। कभी-कभी ऐसा होता कि हिसाबमें जहाँ कहीं कमजोरी होती वहाँ उनकी नाराजीसे बचनेके लिए मैं उस स्थलको दबा जाता; किन्तु कभी भी वह दबा नहीं रहता। हिसाबका सारा चेहरा वे चित्तपटपर अंकित कर लेते थे। जहाँ दरार होती वहीं वे पकड़ लेते थे। इसलिए महीनेके ये दो दिन मेरे लिए बड़े उद्वेगके होते। पहले ही कह चुका हूं कि अपने मनमें सभी चीज स्पष्टरूपसे देख लेना उनका स्वभाव था; फिर चाहे वह हिसाब हो या प्राकृतिक दृश्य, या किसी अनुष्ठानका आयोजन। शान्ति-निकेतनका नया-मन्दिर आदि बहुत-सी चीजें उन्होंने आँखसे नहीं देखीं। किन्तु जो भी कोई शान्तिनिकेतन देखकर उनके पास गया है, प्रत्येकसे वर्णन सुनकर उन्होंने अप्रत्यक्ष चीजोंको मनमें सम्पूर्णरूपसे अंकित किये बिना नहीं छोड़ा। उनकी स्मरणशक्ति और धारणाशक्ति असाधारण थीं। यही कारण है कि एक बार अपने मनमें जिसे ग्रहण कर लेते थे वह किसी भी तरह उनके मनसे भ्रष्ट नहीं होता था।

भगवद्गीतामें पिताजीके पसन्दके श्लोक चिह्नित किये-हुए थे। उन्होंने बंगला अनुवाद सहित उनकी नकल करनेका भार मुझपर सौंपा। घरमें मैं नगण्य बालक था; और यहाँ मुझपर ऐसे गम्भीर कार्योंका भार पड़नेसे मैं उसका गौरव खूब अच्छी तरह अनुभव करने लगा।

इस बीचमें मैंने उस फटी-पुरानी नीली कापीको विदा करके उसकी जगह एक जिल्ददार लेटस् डायरी संग्रह कर ली थी। अब खाता-बही और बाह्य उपकरणों के द्वारा कवित्वकी इज्जत रखनेकी तरफ मेरी दृष्टि पड़ी। सिर्फ कविता लिखना

[1] रवीन्द्रनाथ तब आदि-ब्राह्मसमाजके मंत्री थे, और यह हिसाब उसीका था।

ही नहीं, बल्कि अपनी कल्पनाके सामने अपनेको कविके रूपमें खड़ा करनेकी कोशिश भी चालू हो चुकी थी। यही कारण है कि बोलपुरमें जब मैं कविता लिखता था तब मुझे बगीचेमें जाकर एक नन्हें-से नारियल-वृक्षके नीचे जमीनपर पैर पसारके बैठकर कापी भरना अच्छा लगता था। यह ढंग मुझे कविजनोचित मालूम होता। धूपमें तृणहीन कंकड़-शय्यापर बैठकर मैंने 'पृथ्वीराजका पराजय' नाम कएक वीर-रसात्मक काव्य लिखा था। उसका प्रचुर वीररस भी उस काव्यको विनाशके हाथसे नहीं बचा सका। उसकी सुयोग्य वाहिका जिल्ददार लेट्स् डायरी भी अपनी ज्येष्ठा सहोदरा नीली कापीका अनुसरण करके कहाँ चली गई, पता नहीं।

बोलपुरसे रवाना होकर साहबगंज, दानापुर, प्रयाग, कानपुर आदि स्थानोंमें विश्राम करते हुए अन्तमें हमलोग अमृतसर जा पहुँचे।

रास्तेमें एक घटना हुई थी जो अब भी मेरे मनमें स्पष्ट अंकित है। किसी-एक बड़े स्टेशनपर गाड़ी ठहरी। टिकट-परीक्षकने आकर हमलोगोंके टिकट देखे। उसने एक बार मेरे मुहकी ओर देखा. उसके मनको क्या-तो सन्देह पैदा हुआ, पर कहनेका साहस नहीं हुआ। कुछ देर बाद फिर एक आदमी आया। दोनो हमारे डब्बेके दरवाजेके आगे झांकझूककर फिर चले गये। तीसरी बार शायद स्वयं स्टेशनमास्टर आ पहुंचा। मेरा हाफ-टिकट देखकर उसने पिताजीसे पूछा, "इस लड़केकी उमर क्या बारह सालसे ज्यादा नहीं है?" पिताजीने कहा, "नहीं।" तब मेरी उमर थी ग्यारह सालकी। उमरसे मेरी वृद्धि जरूर कुछ ज्यादा हो गई थी। स्टेशनमास्टरने कहा, "इसके लिए पूरा किराया देना पड़ेगा।" पिताजीकी आँखोंसे चिनगारियां छूटने लगी। उन्होंने उसी वक्त बक्ससेंसे नोट निकालकर दे दिये। किरायेके रुपये काटकर बाकीके रुपये जब वे वापस देने आये तो पिताजीने उन रुपयोंको लेकर बाहर फेंक दिया, रुपये प्लाटफार्मके पत्थरोंपर बिखरकर झनझन बज उठे। स्टेशनमास्टर अत्यन्त सकुचित होकर चला गया, — रुपये बचानेके लिए वे झूठ बोलेंगे, इस सन्देहकी क्षुद्रताने उसका सिर झुका दिया।

अमृतसरका गुरुद्वारा मुझे स्वप्न-सा याद पड़ता है। बहुत दिन सवेरेके वक्त मैं पिताजीके साथ पैदल उस सरोवरके बीचमें स्थित सिख-मन्दिरमें गया हूं। वहाँ हमेशा ही भजन होता रहता था। पिताजी उन सिख-उपासकोंके बीच बैठकर

सहसा उनके सुरमें सुर मिलाकर भजन करने लगते थे। परदेसीके मुहसे इस तरह वन्दना-गान सुनकर वे अत्यन्त उत्साहित होकर उनका समादर करते। लौटते समय हम मिसरीके टुकड़े और हलुआ लेते आते।

एक बार पिताजीने गुरुद्वारेके एक गायकको अपने यहाँ बुलाकर उससे भजन सुने थे। उसे जो पुरस्कार दिया गया था, शायद उससे कम देनेपर भी वह खुश होता। इसका नतीजा यह हुआ कि हमारे यहाँ भजन-गान सुनानेके लिए इतने उम्मीदवारोंकी आमदनी होने लगी कि उनका रास्ता रोकनेके लिए कठोर बन्दोबस्त की जरूरत आ पड़ी। घरपर सुविधा न पाकर उनलोगोंने सरकारी रास्तेपर आक्रमण शुरू कर दिया। रोज सवेरे पिताजी मुझे साथ लेकर घूमने निकलते थे। उस समय क्षण-क्षणमें अचानक सामने तानपूरा वाले गायकोंका आविर्भाव होता रहता। जिस पक्षीके लिए शिकारी अपरिचित नहीं वह जैसे किसीके कंधेपर बन्दूककी नली देखते ही चौंक उठता है, रास्तेके सुदूर किसी-एक कोनेमें तानपूरेका सिरा देखते ही हमारी भी वैसी ही दशा होने लगी। किन्तु शिकार ऐसा सयाना हो उठा था कि उनके तानपूरेकी आवाज कोरी आवाजका ही काम करती थी; वह हमें दूर भगा देती थी, शिकार नहीं कर सकती थी।

जब शाम होने लगती तो पिताजी बगीचेके सामने बरंडेमें आकर बैठते। तब उन्हें ब्रह्म-संगीत सुनानेके लिए मेरी पुकार होती। चारों ओर चाँदनी छिटक रही थी, मैंने विहागमें गाना शुरू किया—

तुम बिन को प्रभु संकट निवारे
को सहाय भव-अन्धकारे।

वे निस्तब्ध होकर सिर झुकाये पालथीपर हाथ जोड़े सुन रहे थे। वह दृश्य आज भी मुझे ज्योंका त्यों याद आता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि एक दिन मेरी खुदकी रचना, दो पारमार्थिक कविताएँ, श्रीकंठ बाबूके मुंह सुनकर पितृदेव हँसे थे। उसके बाद बड़ी उमरमें मैं उसका बदला ले सका था। उस बातका मैं यहाँ उल्लेख करना चाहता हूं। एक बार माघोत्सवके समय (वि०१९४३) प्रभात और संध्यामें मैंने बहुतसे गीत बनाये थे। उनमेंसे एक गीत है "नयन तुम्हें देख न पाते, तुम हो नयन-नयनमें।"

पिताजी तब चुंचुड़ा रहते थे। वहाँ मेरी और ज्योति भाई-साहबकी पुकार हुई। पिताजीने ज्योति भाई-साहबको हारमोनियमपर बिठाकर मुझसे एक-एक करके सारेके सारे नये गीत गानेके लिए कहा। कोई-कोई गीत दुबारा भी गाना पड़ा था। जब गाना समाप्त हो गया, तो उन्होंने कहा, "देशके राजा अगर देशकी भाषा जानते और साहित्यकी कदर समझते होते, तो कविको वे जरूर पुरस्कार देते। राजाकी तरफसे जब कि उसकी कोई सम्भावना ही नहीं तो मुझे ही वह काम करना पड़ेगा।" इतना कहकर उन्होंने पाँच सौ रुपयेका एक चेक लिखकर मेरे हाथमें दे दिया।

पिता मुझे अंग्रेजी सिखानेके लिए Peter Parley's Tales-पर्यायकी बहुत-सी किताबें अपने साथ लेते गये थे। उनमेंसे बेञ्जामिन फ्रैंकलिनका जीवन-वृत्तान्त उन्होंने मेरे लिए पाठ्य-रूपमें चुन लिया। उन्होंने समझा था कि जीवनी बहुत-कुछ कहानी जैसी लगेगी, और उसके पढ़नेसे मेरा उपकार होगा। लेकिन पढ़ाते समय उन्हें अपनी भूल मालूम हो गई। बेञ्जामिन फ्रैंकलिन निहायत ही सुबुद्धिमान आदमी थे। उनकी हिसाबी और कामकी धर्मनीतिकी संकीर्णता पिताजीको पीड़ा देने लगी। पढ़ाते समय किसी-किसी जगह फ्रैंकलिनके घोर सांसारिक विज्ञताके दृष्टान्त और उपदेश-वाक्योंसे वे अत्यन्त झुझला उठते और प्रतिवाद किये बिना उनसे रहा न जाता।

इसके पहले 'मुग्धबोध' कण्ठस्थ करनेके सिवा संस्कृत पढ़नेकी और कोई चर्चा नहीं हुई। पिताजीने मुझे एकदम 'ऋजुपाठ' द्वितीय भाग पढ़ाना शुरू कर दिया; और उसके साथ ही (विद्यासागरकी) 'उपक्रमणिका' मेंसे शब्दोंके रूप याद करनेके लिए कहा। बंगला हमलोगोंको इस तरह पढ़नी पड़ी थी कि उसीमें हमारी संस्कृत-शिक्षाका काम बहुत-कुछ अग्रसर हो चुका था। पिताजी बिलकुल आरम्भमें ही मुझे यथासाध्य संस्कृत रचना-कार्यमें उत्साहित किया करते थे। मैं जो-कुछ पढ़ता था उसीके शब्दोंको उलट-पुलटकर लम्बे-लम्बे समासोंमें गूंथकर जहाँ-तहाँ यथेच्छ अनुस्वार लगाकर देवभाषाको अपदेवोंके योग्य बना देता था। किन्तु पिताजीने मेरे इस अद्भुत दुःसाहसका एक दिन भी उपहास नहीं किया।

इसके सिवा वे प्रॉक्टर-लिखित सरलपाठ्य अंग्रेजी ज्योतिष-ग्रन्थसे बहुतसे विषय मुझे मुहज़बानी समझाते रहते ; और मैं उन्हें बंगलामें लिख लिया करता।

उनके अपने पढ़नेकी जो पुस्तकें वे अपने साथ ले गये थे उनमेंसे एक ग्रन्थमाला मेरी आंखोंमें बड़ी खटकती थी। वह था दस-बारह जिल्दोंमें गिबनका 'रोम'।[१] देखनेमें ऐसा नहीं लगता कि उसमें जरा भी कुछ रस होगा। मैं मन-ही-मन सोचता, मुझे तो मजबूर होकर बहुतसी चीजें पढ़नी पड़ती हैं, कारण मैं लड़का ठहरा, मेरे लिए और कोई चारा नहीं ; किन्तु ये तो नवीयत चाहे तो नहीं भी पढ़ सकते थे, फिर इतना कष्ट क्यों?

अमृतसरमें महीने-भर थे। वहांसे चैतके आखिरमें डलहौजी-पहाड़के लिए रवाना हो गये। अमृतसरमें मेरे दिन नहीं कट रहे थे। हिमालयका आह्वान मुझे अस्थिर किये दे रहा था।

जब डोलीमें चढ़कर पहाड़पर चढ़ रहा था तो देखा कि पर्वतकी उपत्यका अधित्यकाओंमें नाना प्रकारकी खेती फसलने स्तर-स्तर और पंक्ति-पंक्तियोंमें सौन्दर्यकी आग-सी जला रखी है। हमलोग प्रातःकाल ही दूध-रोटी खाकर घूमने निकल जाते; और दोपहर बाद डाक-बंगलेमें आकर आश्रय लेते। दिन-भर मेरी आंखोंको विराम नहीं मिलता, इस डरसे कि कहीं कोई चीज न देखनेमें रह जाय। जहां भी कहीं, पहाड़के किसी कोनेमें या रास्तेकी किसी मोड़में, पल्लव-भाराच्छन्न वनस्पतियोंका दल निविड़ छाया रचना किये खड़ा रहता और ध्यानरत वृद्ध तपस्वियोंकी गोदके पास लीलामयी मुनि-कन्याओंके समान झरना-धाराएँ उस छायातलसे, सेवालाच्छन्न काले पत्थरोंके पाससे, घनशीतल अन्धकारके निभृत नेपथ्यसे कलकल करती-हुई झरती होतीं, वहीं डोलीवाले डोली रखकर विश्राम करते। और मैं लुब्धभावसे सोचता रहता, ये सब स्थान मुझे क्यों छोड़ने पड़ रहे हैं? यहीं रहें तो अच्छा हो न!

नये परिचयका यही एक बड़ा-भारी गुण है। मन तब जान ही नहीं पाता कि

---

[१] The History of the Decline and Fall of the Roman Empire, by Edward Gibbon. (1838)

ऐसा और भी बहुत है। उसे जानते ही हिसाबी मन मनोयोगके खर्चकी बचतकी कोशिश करता है। मन जब प्रत्येक चीजको ही अत्यन्त दुर्लभ समझता है तभी वह अपनी कंजूसीका खातमा करके पूरी कीमत देनेको तैयार हो जाता है। यही कारण है कि मैं किसी-किसी दिन कलकत्ताके रास्तेसे जाते-जाते अपनेको विदेशी समझनेकी कल्पना करता हूं; और तब यह समझने लगता हूं कि यहां देखनेकी चीजें बहुत हैं, सिर्फ मन देनेका मूल्य न चुकानेके कारण ही वे देखाई नहीं देतीं। इसीलिए देखनेकी भूख मिटानेके लिए लोग विदेश जाया करते हैं।

पिताजीने मुझपर अपने छोटे कैशबक्सका भार सौंप दिया था। इस सम्बन्धमें मैं ही योग्यतम व्यक्ति होऊ, ऐसा समझनेका कोई कारण नहीं था। राह-खर्चके लिए उसमें काफी रुपये रहते थे। अपने अनुचर किशोरी चटर्जीके हाथ सौंपते तो वे अधिक निश्चिन्त रह सकते थे, किन्तु मुझपर विशेष भार सौंपना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। डाकबंगलेमें पहुचनेपर एक दिन मैंने बक्स उनके हाथमें न देकर टेबिलपर ही छोड़ दिया था, इसके लिए उन्होंने मुझे डाटा था। .

डाकबगलेमें अकसर पिताजी बाहर कुरसी डलवाकर बैठा करते थे। सध्या होनेपर पर्वतके स्वच्छ आकाशमें तारे अत्यन्त स्पष्ट हो उठते थे; और तब पिताजी मुझे सब ग्रह-नक्षत्रोंसे परिचय कराकर ज्योतिष्कोंके विषयमें आलोचना करते थे।

वकरोटामें हमलोग एक पहाड़पर सबसे ऊंचे शिखरपर स्थित मकानमें ठहरे थे। हालां कि तब वैसाखका महीना था, फिर भी काफी जाड़ा था। यहां तक कि रास्तेमें जहां धूप नहीं पड़ती थी वहांकी बरफ नहीं गलती थी। वहां भी कभी किसी दिन खतरेकी आशंकासे उन्होंने मुझे इच्छानुसार घूमने-फिरनेसे नहीं रोका।

हमारे मकानके नीचेकी एक अधित्यकामें विस्तीर्ण केलु-वन था। उस जगलमें मैं अकेला अपनी लौहफलक-विशिष्ट लाठी लेकर अकसर घूमने जाया करता। वनस्पतियोंका दल विराट् दैत्योंकी तरह बड़ी-बडी छाया लिये खड़ा रहता; उनके न-जाने कितने सैकडो वर्षोंके प्राण थे। किन्तु, कलका एक अति क्षुद्र मानव-शिशु विना किसी सकोचके उनसे विलकुल सटकर घूमता रहता, और वे एक शब्द भी नहीं कह सकते थे। वनकी छायामें प्रवेश करते ही मानो कोई विशेष स्पर्श मुझे छू जाता। मानो वह सरीसृपके शरीरके समान घनी शीतलताका स्पर्श हो; और

नीचेवाले शृंगे पर्वतके ऊपर धूप-छायाकी पर्यायें मानो किसी आदिम सर्गपुरुषके देहकी विचित्र रेखायें हों।

मेरा सोनेका कमरा था एक किनारेमें। रातको बिस्तरपर पड़ा-पड़ा मैं काँचकी खिड़कीमेंसे नक्षत्रालोककी अस्पष्टतामें पर्वत-शिखरकी पाण्डुरवर्ण तुषार-दीप्ति देखा करता। किसी-किसी दिन, मालूम नहीं कितनी रातमें, देखता कि पिताजी लाल दुशाला ओढ़े हाथमें एक बत्ती लिये कहीं जा रहे हैं। थोड़ी देर बाद देखता कि काँचके आवरणसे घिरे बरंडेमें बैठे उपासना कर रहे हैं। फिर, और-एक नींदके बाद अचानक देखता कि वे मुझे धक्का देकर जगा रहे हैं। तब रातका अँधेरा पूरी तरह दूर नहीं हुआ था। 'उपक्रमणिका' मेंसे "नरः नरौ नराः" कण्ठस्थ करनेका यही मेरे लिए निर्दिष्ट समय था। जाड़ेमें कम्बलोंके तप्त वेष्टनसे बड़े दुःखका उद्बोधन होता वह।

सूर्योदयके समय पिताजी जब प्रभातकी उपासनाके बाद एक कटोरा दूध पी चुकते थे, तब वे मुझे अपने पास खड़ा करके उपनिषदके मंत्र पढ़कर और एक बार उपासना करते। उसके बाद मुझे लेकर घूमने निकल जाते। भला उनके साथ मैं कैसे घूम सकता था! बहुतसे बड़ी उमरके लोगोंके लिए भी वह असाध्य था। मैं रास्तेमें ही किसी एक जगह पीठ दिखाकर पगडंडीके रास्ते सीधा घर चला आता।

पिताजी वापस आते तो घंटे-भर तक अंग्रेजीकी पढ़ाई (फ्रेंकलिनकी जीवनी) चलती। उसके बाद दस बजेके करीब बरफ-जैसे ठंडे पानीसे स्नान। इस संकटसे किसी भी तरह छुटकारा नहीं मिलता, उनके आदेशके विरुद्ध उस पानीमें गरम पानी मिलानेकी नौकरोंको हिम्मत ही न होती। मुझे उत्साहित करनेके लिए अपने यौवनकालका दृष्टान्त देकर बताते कि तब वे स्वयं कैसे दुःसह शीतल जलसे नहाया करते थे।

इसके सिवा, दूध पीना मेरे लिए और-एक तपस्या थी। पिताजी काफी मात्रामें दूध पिया करते थे। मैं इस पैतृक दुग्धपान-शक्तिका अधिकारी हो सकता था या नहीं, निश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु, यह मैं पहले ही जता चुका हूँ कि किस वजहसे मेरा पानाहारका अभ्यास सम्पूर्ण उलटी तरफ चला था। पिताजी के साथ बराबर मुझे दूध पीना पड़ता था। आखिर नौकरोंके शरणापन्न हुआ।

वे या तो मुझपर दया करके या अपने प्रति ममतावश मेरे कटोरेमें दूधकी अपेक्षा फेनकी मात्रा ज्यादा कर देते थे।

दोपहरको भोजन करनेके बाद, पिताजी मुझे फिर पढ़ाने बैठते थे। पर वह मेरे लिए असाध्य होता। सवेरेकी बिगड़ी नींद अपने अकाल-विघ्नका बदला लेती। मैं नींदके मारे बार-बार ढुल-ढुल पड़ता। मेरी अवस्था देखकर पिताजी छुट्टी दे देते। किन्तु आश्चर्य है, छुट्टी पाते ही नींद न-जाने कहाँ भाग जाती। उसके बाद देवात्मा नगाधिराजकी पारी आती। किसी-किसी दिन दोपहरको लाठी हाथमें लिये एक पहाड़से दूसरे पहाड़पर चला जाता। पिता इसपर किसी प्रकारका उद्वेग प्रकट नहीं करते। उनके जीवनके अन्त तक मैंने देखा है कि वे किसी हालतमें भी मेरे स्वातंत्र्यमें बाधा देना नहीं चाहते थे। उनकी रुचि और मतके विरुद्ध मैंने बहुतसे काम किये हैं, वे चाहते तो तुरन्त रोक सकते थे, किन्तु कभी भी ऐसा नहीं किया। इसके लिए वे धीरजसे रुके रहते कि जो कर्तव्य है उसे हम अन्तरगसे करें। सत्य और शोभनको हम बाहरकी दिशासे ग्रहण करें, इससे उनका मन तृप्त नहीं होता था ; वे जानते थे कि सत्यसे प्रेम हुए बिना सत्यका ग्रहण हो ही नहीं सकता। वे यह भी जानते थे कि सत्यसे दूर चले जानेपर भी किसी न किसी दिन उसमें वापस लौटा जा सकता है; किन्तु सत्यको अगर कृत्रिम शासनमें मजबूरीसे अथवा अन्ध-रूपमें मान लिया जाय, तो फिर उसमें लौटनेका रास्ता ही बन्द हो जाता है।

अपने यौवनारम्भमें किसी समय मेरे सनक सवार हुई कि बैलगाड़ीमें बैठकर ग्रैण्ड्ट्रंक रोडसे मैं ठेठ पेशावर तक जाऊंगा। मेरे इस प्रस्तावका किसीने भी अनुमोदन नहीं किया, और इसमें आपत्तिके भी बहुतसे विषय थे; किन्तु मैंने जब पिताजीसे यह बात कही, तो उन्होंने कहा, "यह तो बडी अच्छी बात है,– रेलगाड़ीके भ्रमणको क्या भ्रमण कहते हैं!" इतना कहकर वे खुद कैसे-कैसे पैदल और घोड़ागाड़ी आदिमें भ्रमण कर चुके थे उसका किस्सा सुनाने लगे। इस बातका उन्होंने कोई उल्लेख तक नहीं किया कि इसमें मेरे ऊपर कोई विपत्ति या कष्ट आ सकता है।

और-एक बार, जब कि मैं आदि-ब्राह्मसमाजका मंत्री था, पिताजीको पार्क

बक्रोटाके मकानमें आकर मैंने कहा, 'आदि-ब्राह्मसमाजकी वेदीपर ब्राह्मणके सिवा अन्य वर्णके आचार्य नहीं बैठते, इस बातको मैं अच्छा नहीं समझता।' उन्होंने उसी वक्त मुझसे कहा, "अच्छी बात है, अगर तुमसे बन सके तो इसका प्रतिकार करना।" जब उनका आदेश मिल गया तो देखा कि प्रतिकार करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। मैं केवल असम्पूर्णताको ही देख सकता हूँ, किन्तु पूर्णता सृष्टि नहीं कर सकता। आदमी कहाँ है? ठीक आदमीका आह्वान कर सकूँ, ऐसा जोर कहाँ है? तोड़कर उस जगह कुछ बना सकूँ, उसके उपकरण कहाँ हैं? जब तक यथार्थ मनुष्य अपने-आप नहीं आ जुटता तब तक कोई एक बँधा-बुना नियम ही अच्छा,– यही उनके मनमें था। परन्तु क्षण-भरके लिए भी किसी विघ्नका जिक्र करके उन्होंने मुझसे मना नहीं किया। जैसे वे मुझे पहाड़-पहाड़ियोंपर अकेला घूमने देते थे, सत्यके पथपर भी उसी तरह हमेशा उन्होंने मुझे अपने गन्तव्य स्थानका स्वयं निर्णय करनेकी स्वाधीनता दी थी। मैं गलती कर बैठूँगा, इसका उन्हें डर नहीं था, और तकलीफ उठानी पड़ेगी, इसके लिए भी वे कभी उद्विग्न नहीं हुए। उन्होंने मेरे सामने जीवनका आदर्श तो रखा था, पर शासनका दण्ड नहीं उठाया।

पिताके साथ मैं अक्सर घरकी गपशप करता। घरसे किसीका पत्र आते ही उन्हें दिखाता। निःसन्देह वे मेरे पाससे ऐसे बहुतसे चित्र पाते थे जिनको और किसीके जरिये पानेकी कोई भी सम्भावना नहीं थी। बड़े भाई साहब (द्विजेन्द्रनाथ) और मझले भाई साहब (सत्येन्द्रनाथ) की कोई चिट्ठी आती तो वे मुझे पढ़नेके लिए देते। कैसे उन्हें चिट्ठी लिखनी चाहिए, इस बातकी शिक्षा मुझे इसी तरह मिली थी। इन सब बाहरी कायदोंकी शिक्षाको वे आवश्यक समझते थे। मुझे अच्छी तरह याद है, मझले भाई साहबकी किसी चिट्ठीमें लिखा था, 'कर्मक्षेत्रमें' उन्हें 'गलबद्धरज्जु' होकर जुता रहना पड़ता है। उस स्थलके कुछ वाक्योंका उन्होंने मुझसे अर्थ पूछा था। मैंने जो अर्थ किया था वह उनके मनोनुकूल नहीं हुआ, उन्होंने अन्य अर्थ किया था। किन्तु मेरी ऐसी धृष्टता हुई कि उस अर्थको मैंने स्वीकार करना नहीं चाहा। इसपर बहुत देर तक मैंने उनसे बहस की थी। और कोई होता तो जरूर मुझे घुड़ककर चुप कर देता, किन्तु उन्होंने धैर्यके साथ सारे प्रतिवादको सहते-हुए मुझे समझानेकी कोशिश की थी।

मुझे वे बहुतसे कौतुकके किस्से सुनाया करते थे। उनमें मैंने उस जमानेकी रईसीकी बहुतसी बातें सुनी थीं। ढकाई धोतीकी किनारी कर्कश मालूम होती थी, इसलिए तबके शौकीन लोग किनारी फाड़कर धोती पहनते थे— ऐसे सब किस्से उन्हीसे सुने थे। ग्वाला दूधमें पानी मिलाता था इसलिए दूध परिदर्शनके लिए नौकर रखा गया और फिर उसका काम देखनेके लिए दूसरा परिदर्शक नियुक्त हुआ; और इस तरह परिदर्शकोंकी संख्या जितनी ही बढ़ने लगी, दूधका रंग भी उतना ही फीका और क्रमशः काकचक्षुके सदृश स्वच्छनील होने लगा। इसकी कैफियत देते समय ग्वालेने बाबूको जताया कि परिदर्शक अगर और भी बढ़ाये गये तो क्रमशः दूधमें घोंघे सीप और चिंगड़ी-मछलियोंका प्रादुर्भाव हो सकता है। यह किस्सा पहले-पहल उन्हींके मुंहसे सुनकर मैं खूब हँसा था।

इस तरह कई महीने बीतनेके बाद उन्होंने मुझे किशोरी चटर्जीके साथ कलकत्ता भेज दिया।

प्रत्यावर्तन

पहले जिस शासनमें सकुचित होकर रहता था, हिमालय जाते समय वह बिलकुल ही टूट गया। और जब वहाँसे लौटा तब मेरा अधिकार प्रशस्त हो चुका था। जो व्यक्ति आँखों-ही-आँखोंमें रहता है उसपर किसीकी आँख ही नहीं पड़ती; दृष्टिक्षेत्रसे एक बार दूर चले जानेपर जब लौटा तब देखा गया कि लोगोंकी मुझपर निगाह पड़ी है। लौटते समय रेलमें ही मेरे भाग्यमें लाड़-प्यार शुरू हो गया था। सिरपर जरीकी टोपी पहने मैं अकेला बालक सफर कर रहा था, साथमें सिर्फ एक नौकर था। स्वास्थ्यकी पूर्णतासे मेरा शरीर परिपुष्ट हो उठा था। रास्तेमें जितने भी साहब या मेम गाड़ीपर सवार होती थी, मुझे हिलाये-डुलाये बगैर न रहती।

जब घर वापस आया तो केवल प्रवाससे ही लौटा होऊं, सो बात नहीं; किन्तु अब तक घरमें रहता-हुआ भी जिस निर्वासनमें था, उस निर्वासनसे घरके भीतर

जा पहुंचा। अन्तःपुरकी बाधा जाती रही, नौकरोंके घरमें अब मैं नहीं अमाया। माके घरमें मैंने खूब बड़ा-सा आसन दखल कर लिया। तब हमारे घरमें जो सबसे छोटी बहू (ज्योतिरिन्द्रनाथकी पत्नी कादम्बरी देवी) थी, उनसे मुझे बहुत स्नेह और लाड़ प्राप्त हुआ।

बचपनमें स्त्रियोंका लाड़-प्यार बिना मांगे ही मिला करता है। जैसे प्रकाश और हवा आदमीके लिए जरूरी है वैसे ही स्त्रियोंका आदर-जतन भी उसके लिए आवश्यक है। किन्तु 'हवा-प्रकाश पा रहा हूं' ऐसा कोई विशेष अनुभव आदमी नहीं करता, स्त्रियोंके लाड़-प्यारके बारेमें भी बच्चोंका ऐसा भाव होना स्वाभाविक ही है। बल्कि बच्चे तो इस तरहके लाड़-प्यारके जालसे निकल भागनेके लिए ही छटपटाते रहते हैं। किन्तु जिस समय जो सहज-प्राप्य है उस समय वह न जुटे तो आदमी कंगाल हो उठता है। मेरी भी वही दशा हुई। बचपनमें नौकरोंके शासनमें बाहरी मकानमें पलते-पलते सहसा स्त्रियोंका स्नेह पाकर मुझसे वह भूला नहीं गया। शिशु-अवस्थामें अन्तःपुर जब हमसे दूर था तब मन-ही-मन हमने वहां अपना कल्पलोक सृजन किया था। जिस स्थानको भाषामें 'अवरोध' कहा जाता है वहीं मैं समस्त बन्धनोंका अवसान देखता। सोचता, वहां स्कूल नहीं है, मास्टर नहीं है, जबरदस्ती कोई किसीको किसी काममें प्रवृत्त नहीं कराता, वहांका एकान्त अवकाश अत्यन्त रहस्यमय है, वहां किसीके समक्ष दिन-भरका हिसाब नहीं समझाना पड़ता, खेल-कूद सब अपनी इच्छाके अनुकूल है। एक और खास बात यह देखता कि मेरी छोटी-जीजी (वर्णकुमारी) हमारे साथ उन्हीं नीलकमल पंडितजीसे पढ़ती थी जिनसे हमलोग, फिर भी उनके लिए पढ़नेपर भी जो विधान लागू होता, न पढ़नेपर भी वही होता। सवेरे दस बजे हमलोग जल्दी-जल्दी खा-पीकर स्कूल जानेके लिए भले-आदमीकी तरह तैयार रहते ; और जीजी वेणी हिलाती हुई निश्चिन्त मनसे घरके भीतर चली जाती। देखकर मन विकल हो जाता। इसके बाद गलेमें सोनेका हार पहने जब नववधू (कादम्बरी देवी) घरमें आई तब अन्तःपुरका रहस्य मेरे लिए और भी घनीभूत हो उठा। जो बाहरसे आई है किन्तु है घरकी ही, जिनको कुछ भी नहीं जानता किन्तु हैं वे अपनी ही, उनसे मेल कर लेनेकी मेरी बड़ी इच्छा होने लगी। पर मुश्किल यह

हुई कि किसी मौकेसे मैं उनके पास पहुंचता तो छोटी जीजी घुड़ककर कहतीं, "यहाँ तुमलोग क्या करने आते हो, जाओ बाहर जाओ।" तब, एक तो निराशा और उसपर अपमान, इस बातसे मनको बड़ी चोट पहुंचती। और-फिर उनकी कांचकी आलमारीके भीतर देखता सजे-हुए कांच और चीनीमिट्टीके खिलौने, और तरह तरहकी दुर्लभ सामग्रियाँ,— उनके कैसे-कैसे रंग होते कैसी-कैसी सजावट! हम लोग कभी भी उन्हें छूने योग्य नहीं समझे गये; और, न कभी कोई चीज माँगनेकी ही हिम्मत कर सकते थे। और, मजा यह कि ये ही सब दुष्प्राप्य सुन्दर चीजें अन्त:पुरकी दुर्लभताको और भी कैसी-तो रंगीन कर देती थी।

इसी तरह दूर-ही-दूर प्रतिहत होकर मेरे दिन कटे थे। बाहरकी प्रकृति जैसे मुझसे दूर थी, घरका अन्त:पुर भी वैसा ही था। यही कारण था कि उसका जितना भी अंग देखता वह तसवीर-सा मालूम होता। रातको नौ बजे बाद अघोर मास्टरसे पढ़ना खतम करके घरमें सोने जाता। जाते-जाते देखता, झिलमिलीदार लम्बे बरंडेमें लालटेन टिमटिमा रही है, उस बरंडेको पार करके अँधेरेमें चार-पाँच पैंडी नीचे उतरकर आँगनदार अन्त:पुरके बरामदेमें पहुंचकर देखता, बरामदेके पश्चिम-भागमें पूर्व-आकाशसे तिरछी चाँदनी आ पड़ी है, बाकी हिस्सा अन्धकारमय है; और उतनी-सी चाँदनीमें घरकी दासियाँ पैर फैलाये बैठी-बैठी अपने उरुओंपर दिआके लिए बत्तियाँ बट रही हैं और मृदुस्वरसे अपने देशकी बातें कर रही हैं। ऐसे कितने ही चित्र मनमें अंकित हुए पड़े हैं। इसके बाद रातको खा-पीकर बरंडेमें हाथ-पाँव धोकर हम तीनों एक बड़े बिस्तरपर सो जाते। शंकरी या प्यारी या तीनकौड़ी आकर सिरहाने बैठ जाती और राजपुत्रकी भ्रमण-कहानी सुनाने लगती। उस कहानीके समाप्त होते ही शयनकक्ष नीरव हो जाता। दीवारकी तरफ मुंह किये पड़ा-पड़ा मैं क्षीणालोकमें देखा करता, दीवारमें कहीं-कहीं चूना झर जानेसे सफेद-काली नाना प्रकारकी रेखाएँ बन गई हैं, और उन रेखाओंमें मैं मन-ही-मन नाना प्रकारके विचित्र चित्र उद्भावन करता हुआ सो जाता। और किसी-किसी दिन आधी रातको अध-नींदमें सुनने लगता कि अतिवृद्ध स्वरूप सरदार ऊँचे स्वरमें आवाज लगाता हुआ एक बरंडेसे दूसरे बरंडेमें चला जा रहा है।

ऐसे अल्प-परिचित कल्पना-जड़ित अन्तःपुरमें, एक दिन, मैंने बहुत दिनोंमें प्रत्याशित लाड़-प्यार पाया। जो प्रतिदिन पाते-पाते सहज हो जाता है, उसे मैं सहसा एक दिन ब्याज-समेत पाकर ठीक तौरसे वहन कर सका होऊं, ऐसा नहीं कह सकता।

छोटा-सा भ्रमणकारी घर लौटकर कुछ दिन तक घर-भरमें अपने भ्रमणकी कहानी सुनाता फिरा। बार-बार कहते-कहते वह इतना ज्यादा ढीला हो चला कि मूल वृत्तान्तके साथ उसका मेल बैठना असम्भव हो उठा। हाय, और-और चीजोंकी तरह कहानी भी पुरानी पड़ जाती है, म्लान हो जाती है; और जो कहानी कहता है उसकी गौरवकी पूंजी भी क्रमशः क्षीण होती रहती है। इस तरह पुरानी कहानीकी उज्ज्वलता जितनी ही घटती रहती है उतना ही उसपर एक-एक फेर रंग चढ़ाना पड़ता है।

पहाड़से लौटनेके बाद छतपर माताकी वायु-सेवन-सभामें मैंने ही प्रधान वक्ता का पद प्राप्त किया था। माके पास यशस्वी होनेका लोभ सम्हालना कठिन होता है; और यश प्राप्त करना भी बहुत मुश्किल नहीं होता।

नॉर्मल स्कूलमें पढ़ते समय जिस दिन किसी-एक 'शिशुपाठ'में पहले-पहल पढ़ा कि पृथ्वीसे सूर्य चौदह-लाख-गुना बड़ा है उस दिन माकी सभामें इस सत्यका उद्घाटन किया था। इससे प्रमाणित हुआ था कि जो देखनेमें छोटा है वह भी सम्भव है बहुत बड़ा हो। अपने पाठ्य व्याकरणमें काव्यालंकारके प्रसंगमें जो कविता उद्धृत थी उसे मुहज़बानी सुनाकर माको मैं विस्मित कर दिया करता था। हालमें प्रॉक्टरके ग्रन्थसे ग्रह-नक्षत्रोंके सम्बन्धमें जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त किया था, उसे भी मैं उस दक्षिण-वायु-वीजित सान्ध्य-सभामें विवृत करने लगा।

मेरे पिताका अनुचर किशोरी चटर्जी किसी जमानेमें 'पाँचाली'-दलका[१] गायक था। वह मुझसे, पहाड़पर रहते समय, अकसर कहा करता था, "अहा भैया साहब, उस समय अगर कहीं तुम मिल जाते तो मेरा पाँचाली-दल ऐसा जमता कि क्या बताऊं!" सुनकर बड़ा लोभ होता, पाँचाली-दलमें शामिल होकर देश-देशान्तरमें

१ पचाङ्गी संगीत, जिसके ये पाँच अंग हैं–(१) गाना, (२) साज बजाना, (३) नये-नये गाने रचना, (४) गानोंकी लड़ाई लड़ना और (५) नाचना।

गान गाते फिरना मुझे एक बड़ा-भारी सौभाग्य मालूम होता। उस किशोरीसे मैंने बहुतसे पंचाली गीत सीखे थे — 'ओरे भाई, जानकीको पहुंचा दो वनमें', 'लाल जवा कैसा शोभा देता', 'लो नाम श्रीकान्त नरकान्तकारीका नितान्त कृतान्त भयांत होगा भव-भवमें' इत्यादि। इन गानोंसे हमारी सभा जैसी जम उठती थी, वैसी सूर्यके अग्नि-उच्छ्वास या शनिकी चन्द्रमयताकी आलोचनासे नहीं जमती थी।

दुनिया-भरके लोग कृत्तिवासकी बंगला 'रामायण' पढ़कर जिन्दगी काट देते हैं और मैं पितासे स्वयं महर्षि वाल्मीकि रचित अनुष्टुभ छन्दकी 'रामायण' पढ़ आया हूं,—इस संवादसे अपनी माको मैं सबसे ज्यादा विचलित कर सका था। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा, "अच्छा, बेटा, उस 'रामायण'मेंसे हमें भी जरा पढ़कर सुनाओ तो देखूं।"

हाय री तकदीर, एक तो 'ऋजुपाठ' का जरा-सा उद्धृत अंश (कैकेयी-दशरथ संवाद), सो भी मेरा पूरा पढा-हुआ नहीं, उसे भी सुनाते समय देखा कि बीच-बीचमें बहुत-सा अंश विस्मृतिके कारण अस्पष्ट होता आ रहा है। परन्तु जो मा पुत्रकी विद्या-बुद्धिकी असाधारणता अनुभव करके आनन्द-सम्भोग करनेके लिए उत्सुक हुई बैठी है, उन्हें 'भूल गया' कहने लायक शक्ति मुझमें कहां थी? लिहाजा, 'ऋजुपाठ'से जो-कुछ पढ़कर सुनाया गया, उसमें वाल्मीकिकी रचना और मेरी व्याख्याके बीच बहुत-कुछ असामंजस्य रह गया। स्वर्गमें अवस्थित करुणहृदय महर्षि वाल्मीकिने अवश्य ही जननीसे ख्याति-प्रत्याशी अर्वाचीन बालकके इस अपराधको सकौतुक स्नेहकी हँसी हँसते हुए क्षमा कर दिया होगा; किन्तु दर्पहारी मधुसूदनने मुझे पूरा छुटकारा नहीं दिया।

माने समझा कि मेरे द्वारा असाध्य-साधन हुआ है, इसलिए और-सबोंको आश्चर्यचकित कर देनेके अभिप्रायसे उन्होंने कहा, "एक बार द्विजेन्द्रको सुना दे।" इसपर मन-ही-मन संकटकी कल्पना करके मैंने घोर आपत्ति की। पर माने एक न सुनी। उन्होंने बड़े भाई साहबको बुलवा भेजा। और उनके आते ही माने कहा, "रविने कैसा अच्छा वाल्मीकि-रामायण पढ़ना सीखा है, सुन जरा!" कोई चारा नहीं था, सुनाना ही पड़ा। दयालु मधुसूदनने अपने दर्पहारित्वका जरा-सा आभासमात्र देकर मुझे इस बारके लिए छोड़ दिया। भाई साहब शायद किसी

नमें तल्लीन थे, बंगला व्याख्या सुननेके लिए उन्होंने कोई आग्रह प्रकट नहीं या। दो-चार श्लोक सुनने ही वे 'अच्छा है' कहकर चले गये।

इसके बाद स्कूल जाना मेरे लिए और भी ज्यादा कठिन हो गया। तरह-तरह बहाने करके बंगाल एकाडेमीसे मैंने भागना शुरू कर दिया। सेण्टजेवियर्समें ८७४-७६ ई०) हमलोग भरती किये गये; वहाँ भी कोई फल न हुआ।

बड़े भाइयोंने बीच-बीचमें दो-एक बार कोशिश की, बादमें उनलोगोंने भी आशा बिलकुल छोड़ दी। अन्तमें मुझे डाटना-फटकारना भी छोड़ दिया। एक बड़ी जीजी (सत्यप्रसादकी मा सौदामिनी देवी) ने कहा, "हम सबोंने आशा थी कि बड़ा होनेपर रवि एक आदमी-सा आदमी बनेगा, लेकिन उसीकी आशा से ज्यादा दुराशा साबित हुई।" मैं अच्छी तरह समझता था कि भद्र-समाजके बाजारमें मेरी कीमत घटती जा रही है, मगर फिर भी, जो विद्यालय मेरे लिए दो तरफके जीवन और सौन्दर्यसे विच्छिन्न जेलखाना था, और जिसकी चहार-दीवारी मेरे लिए अस्पताल-जातिकी निर्मम विभीषिका थी, उसके नित्य घूमनी घानीमें मैं अपनेको किसी भी तरह समर्पित न कर सका।

सेण्टजेवियर्सकी एक पवित्र स्मृति आज तक मेरे मनमें अम्लान हुई पड़ी है। है वहाँके एक अध्यापककी स्मृति। हमारे सब अध्यापक समान नहीं थे, सकर मेरी कक्षाके जो दो-एक अध्यापक थे उनमें मैंने भगवद्भक्तिकी गम्भीर रता नहीं देखी। बल्कि, साधारणतः शिक्षकगण जैसे शिक्षा-देनेवाली मशीन कर बालकोंको हृदयकी दिशामें पीड़ित किया करते हैं, वे उससे ज्यादा ऊपर चढ़ सके थे। एक तो शिक्षाकी मशीन ही एक बड़ी-भारी मशीन है, उसपर प्यकी हृदय-प्रकृतिको सुखाकर पीस डालनेके लिए धर्मके बाह्य-अनुष्ठानके न महा-चक्की संसारमें मिलना दुश्वार है। जो लोग धर्म-साधनामें उस रकी ओर ही अटके पड़े हैं वे अगर शिक्षकताकी मशीनके चक्केके साथ रोज ते रहे, तो उपादेय चीज नहीं बन सकती, और, हमारे शिक्षकोंमें शायद दो नोंमें पके वैसे नमूने मौजूद थे। किन्तु फिर भी, सेण्टजेवियर्सके समस्त अध्या-के जीवनादर्शको ऊंचा उठाये-हुए मेरे मनमें विराज रही है ऐसे एक अध्यापककी ति जो शायद कुछ ही दिनोंके लिए किसीके स्थानापन्न होकर हमें पढ़ाने आये

थे। उनका नाम था फादर डी' पेनेरण्डा। वे स्पेनके थे। अंग्रेजी उच्चारणमें उन्हें यथेष्ट कठिनाई थी। शायद इसीलिए जब वे क्लासमें पढ़ाने आते तो लड़के उनकी तरफ कुछ ध्यान न देते थे। मुझे ऐसा लगता कि छात्रोंकी उस उदासीनताकी बाधाको वे मनमें अनुभव करते थे, किन्तु नम्रभावसे उसे वे प्रतिदिन सह लेते थे। मुझे नहीं मालूम कि क्यों उनके लिए मैं अपने मनमें इस तरह वेदना अनुभव करता। उनका चेहरा सुन्दर न था, किन्तु मेरे मनमें उनके प्रति एक आकर्षण था। उन्हें देखते ही मुझे लगता कि वे सर्वदा ही अपने भीतर मानो कोई देवोपासना कर रहे हों। अन्तरात्माकी विशाल और निविड स्तब्धताने उन्हें मानो घेर रखा हो। हमारे लिए आध घंटा कापी लिखनेके लिए निर्दिष्ट था; और मैं तब कलम हाथमें लिए अन्यमनस्क-सा बैठा ऊलजलूल बातें सोचा करता। एक दिन फादर डी' पेनेरण्डा हमारी कक्षाकी अध्यक्षता कर रहे थे। वे प्रत्येक बेञ्चके पीछे घूम रहे थे। शायद उन्होंने दो-तीन बार लक्ष्य किया था कि मेरी कलम नहीं चल रही है। सहसा मैंने देखा कि पीछेसे झुककर उन्होंने मेरी पीठपर हाथ रखा और अत्यन्त स्नेहपूर्ण स्वरमें मुझसे पूछा, "टगोर, तुम्हारी तबीयत क्या ठीक नहीं ?" कोई खास बात नहीं, किन्तु आज तक मैं उनके प्रश्नको भूला नहीं। अन्य छात्रोंकी बात मैं नहीं कह सकता, किन्तु मुझे उनके भीतरका विशाल हृदय दीख पड़ता था; आज भी उसका स्मरण करता हू तो मानो मैं निभृत निस्तब्ध देव-मन्दिरमें प्रवेश करनेका अधिकार पा जाता हू।

उस समय और भी एक प्राचीन अध्यापक थे जिन्हें छात्रगण प्यार करते थे। उनका नाम था फादर हेनरी। वे ऊंची कक्षामें पढ़ाते थे, अतः मैं उन्हें अच्छी तरह नहीं जानता था। उनके सम्बन्धमें मुझे एक बात याद है, जो उल्लेखयोग्य है। वे बंगला जानते थे। उन्होंने अपने क्लासके नीरद नामके एक छात्रसे पूछा था, "तुम्हारे नामकी व्युत्पत्ति क्या है ?" अपने सम्बन्धमें नीरद हमेशासे बिलकुल निश्चिन्त था, किसी दिन अपने नामकी व्युत्पत्तिके विषयमें उसने जरा भी उद्वेग अनुभव नहीं किया, लिहाजा इस तरहके प्रश्नका उत्तर देनेके लिए वह किंचिन्मात्र भी तैयार नहीं था। किन्तु शब्दकोषमें इतने बड़े-बड़े अपरिचित शब्द रहते हुए अपने नामके सम्बन्धमें इस तरह बेवकूफ बन जाना मानो अपनी गाड़ीके नीचे खुद

आ जाने जैसी दुर्घटना थी, इसलिए नीरुने उसी वक्त बेधड़क जवाब दिया, "नो धी 'रोद,'[1] नीरोद; यानी जिसके रहनेसे 'रौद्र' (धूप) नहीं रहती वह नीरद है।"

घरकी पढ़ाई

आनन्दचन्द्र वेदान्तवागीशके पुत्र ज्ञानचन्द्र भट्टाचार्य महाशय घरपर हमारे शिक्षक थे। स्कूलकी पढ़ाईमें जब वे मुझे किसी भी तरह बाँध न सके तब पतवार छोड़कर उन्होंने दूसरा रास्ता अख्तियार किया। वे मुझे बंगलामें अर्थ करके 'कुमारसम्भव' पढ़ाने लगे। इसके सिवा 'मैकबेथ'मेंसे थोड़ा-थोड़ा बंगलामें समझा देते, और जब तक मैं उसका बंगला छन्दमें अनुवाद नहीं कर लेता तब तक मुझे कमरेमें बन्द कर रखते। इस तरह पूरी पुस्तकका अनुवाद हो गया था। सौभाग्यसे वह खो गया, और मेरे कर्मफलका बोझ भी उतनी मात्रामें हलका हो गया।

पण्डित रामसर्वस्व महाशयपर मेरे संस्कृत अध्यापनका भार था। अनिच्छुक छात्रको व्याकरण सिखानेकी दुःसाध्य चेष्टा व्यर्थ होनेसे वे मुझे अर्थ कर-करके 'शकुन्तला' पढ़ाया करते थे। एक दिन वे मुझे 'मैकबेथ'का अनुवाद सुनानेके लिए विद्यासागर महाशयके पास ले गये। उनके पास तब राजकृष्ण मुखोपाध्याय बैठे थे। पुस्तकोंसे भरे उनके कमरेमें घुसते ही मेरा हृदय काँप उठा; और उनका चेहरा देखकर मेरा कुछ साहस बढ़ा हो, ऐसा मैं नहीं कह सकता। इसके पहले विद्यासागर जैसे श्रोता तो मुझे मिले नहीं थे, लिहाजा, वहाँसे ख्याति पानेका लोभ मेरे मनमें खूब प्रबल हो उठा। शायद वहाँसे कुछ उत्साह संचय करके ही लौटा था। मुझे याद है, राजकृष्ण बाबूने मुझे उपदेश दिया था कि 'नाटकके अन्यान्य अंशोंकी अपेक्षा डाकिनीके कथनकी भाषा और छन्दमें कुछ वैचित्र्यकी विशेषता होनी चाहिए।'

मेरे बचपनमें बंगला साहित्यका कलेवर कृश था। मेरा खयाल है तब पाठ्य अपाठ्य जितनी भी बंगला किताबें थीं, मैं सब पढ़ गया था। तब बच्चों और

१ नीरदका बंगला उच्चारण है 'नीरोद'। बंगलामें 'रोद' (रौद्र) कहते हैं धूपसे।

बड़ोंकी पुस्तकोंमें कोई खास पार्थक्य नहीं था। और उससे हमारी विशेष कुछ क्षति नहीं हुई थी। आजकल साहित्यरसमें काफी मात्रामें पानी मिलाकर बच्चोंके लिए जो मन-बहलानेवाली पुस्तकें लिखी जाती हैं उनमें बच्चोंको नितान्त बच्चे समझनेकी ही मनोवृत्ति पाई जाती है। उन्हें मनुष्य ही नहीं समझा जाता। असलमें विधान ऐसा होना चाहिए कि बच्चे जो भी पुस्तक पढ़ें उसका कुछ तो उनकी समझमें आ जाय और कुछ न आये। हमलोग अपने बचपनमें एक तरफसे किताबें पढ़ते चले जाते थे, जो समझते और जो नहीं समझते दोनोंका ही हमारे मनपर असर पड़ता रहता। संसार भी बच्चोंके मनपर ठीक ऐसा ही काम करता रहता है। इसमें जितना वे समझते हैं उतना प्राप्त करते हैं; और जितना नहीं समझते वह भी उन्हें आगेकी तरफ ढकेल ले जाता है।

दीनबन्धु मित्रका जब 'जमाई बारिक' प्रहसन प्रकाशित हुआ था तब उसके पढ़नेकी उमर हमारी नहीं थी। मेरी कोई दूरके नातेकी आत्मीया उस पुस्तकको पढ़ रही थी। बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी मैं उनसे वह पुस्तक न ले सका था। वे उसे तालेमें बन्द करके रखती थीं। निषेधकी बाधासे मेरा उत्साह और भी बढ़ गया; मैंने उन्हें चेतावनी देकर कहा, "इस किताबको मैं जरूर पढ़ूंगा।"

दोपहरको वे 'ग्राबू' खेल रही थीं; और आँचलमें बँधा चाभीका गुच्छा उनकी पीठपर लटक रहा था। ताशके खेलमें कभी मेरा मन नहीं लगा, मेरे लिए वह हमेशा विरक्तिकर रहा है। किन्तु उस दिन मेरे व्यवहारसे इस बातका अन्दाज लगाना कठिन था। मैं चित्रवत् स्थिर बैठा था। किसी-एक पक्षमें आसन्न छक्के पंजेकी सम्भावनासे खेल जब खूब जम उठा तब मैंने बड़ी होशियारीसे आहिस्ता आहिस्ता उनके आँचलसे चाभीका गुच्छा खोलनेकी कोशिश की। मगर इस कामके लिए एक तो उंगलियोंमें दक्षता नहीं थी, उसपर आग्रहका चाञ्चल्य भी था। मैं पकड़ा गया। जिनकी चाभियाँ थीं उन्होंने मुसकुराकर पीठसे आँचल उतारा और उसे अपनी पालथीपर रखकर वे फिर खेलमें मशगूल हो गईं। अब मैंने एक और तरकीब निकाली। उनमें तम्बाकू खानेकी आदत थी। मैंने कहींसे एक पात्रमें पान-तम्बाकू संग्रह करके उनके सामने रख दिया। जैसी कि मैंने आशा की थी, वही हुआ। पीक फेंकनेके लिए उन्हें उठना पड़ा, चाभी समेत उनका आँचल

पालथीसे नीचे गिर गया और अभ्यासानुसार उसी वक्त उन्होंने उसे उठाकर पीठ पर डाल लिया। अबकी बार चाबीका गुच्छा गुम किया गया ; और चोर पकड़ा भी नहीं गया। किताब पढ़ ली गई। उसके बाद चाबी और पुस्तक दोनों उनकी अधिकारिणीके हाथ सौंपकर चौर्यापराधके कानूनसे मैंने अपनी रक्षा कर ली। उन्होंने मुझे डाटने-फटकारनेकी भरसक कोशिश की, पर वह यथोचित कठोर नहीं हुई। वे मन-ही-मन हँस रही थीं, और मेरी भी यही दशा थी।

राजेन्द्रलाल मित्र महाशय उन दिनों (१८५१ ई०) 'विविधार्थसंग्रह' नामक एक सचित्र मासिकपत्र निकाला करते थे। उसकी एक जिल्द मझले भाई साहब (हेमेन्द्रनाथ) की अलमारीमें थी। मैंने उसे किसी तरह प्राप्त कर लिया था। बार-बार उसे पढ़नेकी खुशी अब भी मुझे याद है। उस बड़ी चौकोर किताबको मैं छातीपर रखकर अपने सोनेके कमरेमें बिस्तरपर चित पड़ा-पड़ा पढ़ा करता था। उसमें नर्हाल तिमि मत्स्यका वर्णन, काजीके फैसलेकी कौतुकजनक कहानियाँ और कृष्णकुमारीका उपन्यास पढ़ते हुए मैंने न-जाने कितनी छुट्टियोंकी दुपहरियाँ बिताई थीं।

उस तरहके पत्र अब एक भी देखनेमें क्यों नहीं आते? आजकलके पत्र-पत्रिकाओंमें एक ओर तो विज्ञान-तत्त्वज्ञान-पुरातत्त्व और दूसरी ओर बहुत ज्यादा तादादमें कहानी-कविताएं और तुच्छ भ्रमण-वृत्तान्त भरे रहते हैं। सर्वसाधारणके आराममें पढ़ने-लायक मध्यमश्रेणीका एक भी पत्र देखनेमें नहीं आता। विलायतमें 'चेम्बर्स जर्नल' 'कस्ल्स मैगाजिन' 'स्ट्रैण्ड मैगाजिन' आदि अधिकसंख्यक पत्र ही सर्वसाधारणकी सेवामें नियुक्त हैं। वे ज्ञान-भण्डारमें सारे देशको नियमित रूपसे मोटी खुराक जुटाया करते हैं। यह मोटी खुराक ही देशके अधिकांश लोगोंके अधिक मात्रामें काम आती है।

बाल्यकालमें (१८६३ ई०) मुझे और एक मासिकपत्रका परिचय मिला था, उसका नाम था 'अबोध-बन्धु'। इसके बहुतसे फुटकर अंक बड़े भाई साहबकी अलमारीसे निकालकर, उन्हींके कमरेके बगलवाले कमरेमें खुले दरवाजेके पास बैठकर, मैं कितने ही दिनों तक पढ़ता रहा हूं। इसी पत्रमें सबसे पहले मैंने विहारीलाल चक्रवर्तीकी कविता पढ़ी थी। उस जमानेकी समस्त कविताओंमें विहारीलालकी

कविताने ही मेरे मनको सबसे ज्यादा हरण किया था। उनकी वे कविताएँ सरल बाँसुरीके सुरमें मेरे मनमें खेत और वनके गीत ध्वनित कर देती थी। इसी 'अबोधबन्धु' मासिकपत्रमें विलायती 'पौलवर्जिनी' कहानीका सरस बंगला अनुवाद पढते-पढते मैंने कितने आँसू बहाये है उसका ठीक नहीं। अहा, वह किस सागरका तट था! वह कौनसा समुद्र-समीर-कम्पित नारिकेल-वन था! कौनसे पहाड़की वह उपत्यका थी जिसमें भेड़-बकरियाँ चरती थी! कलकत्ता शहरके दक्षिणके बरडेमें दोपहरकी घाममें वह कैसी मधुर-मरीचिका विस्तीर्ण हो जाती थी! और माथेमे रंगीन रूमाल बाँधे कहानीकी उस वर्जिनीके साथ उस निर्जन द्वीपके श्यामल वनमार्गमें एक भारतीय युवकका वह कैसा प्रेम जमा था!

अन्तमें बंकिमचन्द्रके 'बंगदर्शन'ने आकर पाठकोंके हृदयको बिलकुल ही लूट लिया। एक तो उसके लिए मासान्त तक प्रतीक्षामें रहता, उसपर बड़ोंके पढ़ चुकने तक रुके रहना और भी दुःसह हो उठता। 'विषवृक्ष' 'चन्द्रशेखर' आदि अब तो जिसके जीमें आये वह अनायास ही एक ग्रासमें पढ सकता है, किन्तु हमलोग जिस तरह महीने-महीने-भर कामना करके, प्रतीक्षा करके, थोड़े समयकी पढाईको दीर्घकालके अवसरके द्वारा मनमें अनुरणित करके, तृप्तिके साथ अतृप्ति और भोगके साथ कुतूहलको बहुत दिनो तक गूथ-गूथकर पढा करते थे, वैसे पढनेका मौका अब और किसीको नही मिल सकता।

श्री सारदाचरण मित्र और अक्षयचन्द्र सरकारका 'प्राचीन काव्य-संग्रह' (१८७३-७४ ई०) उस समय मेरे लिए एक लोभकी वस्तु थी। मेरे गुरुजन इसके ग्राहक थे, किन्तु नियमित पाठक नही थे। लिहाजा उसके खंड इकट्ठे करनेमें मुझे ज्यादा दिक्कत नही उठानी पड़ती थी। विद्यापतिकी दुर्बोध विकृत मैथिली पदावलि अस्पष्ट होनेसे ही मेरे मनको ज्यादा आकर्षित करती थी। मैं उसकी टीकापर निर्भर न करके स्वयं समझनेकी कोशिश करता। खास कोई दुरूह शब्द जहाँ जितनी बार व्यवहृत हुआ था, उन सबको मैं एक कापीमें लिख रखता था, और व्याकरणकी विशेषताएँ भी मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार लिख ली थीं।

घरका वातावरण

बचपनमें मेरे लिए एक खास सुविधाकी बात यह थी कि हमारे घरमें दिन-रात साहित्यकी हवा बहती रहती थी। मुझे खूब याद है, जब मैं बिलकुल बच्चा ही था, किसी-किसी दिन सन्ध्या-समय बरंडेकी रेलिंग थाम चुपचाप खड़ा रहता था। सामने बैठकवाले मकानमें बत्तियाँ जल रही हैं, आदमी आ-जा रहे हैं, दरवाजेपर बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ आकर रुक रही हैं। क्या हो रहा है अच्छी तरह समझ नहीं पाता था, सिर्फ अँधेरेमें खड़ा-खड़ा आलोकमालाकी ओर देखा करता था। बीचमें व्यवधान यद्यपि ज्यादा न था, फिर भी मेरे शिशु-जगतमें वह बहुत दूरका प्रकाश था। मेरे चचेरे भाई गणेन्द्र-दादा (गणेन्द्रनाथ ठाकुर; १८४१-६९ ई०) तब रामनारायण तर्करत्नसे 'नया नाटक' (जनवरी १८६७) लिखवाकर घरपर उसका अभिनय करा रहे थे। साहित्य और ललितकलामें उनके उत्साहकी सीमा नहीं थी। बंगालके आधुनिक युगको मानो वे सब तरफसे उद्बोधित करनेकी कोशिश कर रहे थे। वेश-भूषामें, काव्य और गानमें, चित्र और नाट्यमें, धर्म और देश-प्रेममें, सभी विषयोंमें उनके मनमें एक सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण जातीयताका आदर्श जाग रहा था। संसारके समस्त देशोंकी इतिहास-चर्चामें गणेन-दादाका असाधारण अनुराग था। बहुतसे इतिहास वे बंगलामें लिखना आरम्भ करके अधूरे छोड़ गये हैं। उनके लिखे हुए 'विक्रमोर्वशी' नाटकका एक अनुवाद बहुत दिन हुए (१८६८ ई०) प्रकाशित हुआ था। उनके रचे हुए ब्रह्मसंगीत अब भी धर्म-संगीतमें श्रेष्ठ स्थान अधिकार किये हुए हैं।

सब मिल गाओ उन्हींका नाम
जिनकी रचना है विश्वधाम,
दयाका जिनमें नहीं विराम,
झरती अविरत करुणा-धारा—

यह प्रसिद्ध गीत उन्हींका है। बंगालमें देशानुरागके गीत और कविताओंका प्रथम सूत्रपात वे ही लोग कर गये थे। वह आज न-जाने कितने दिनकी बात है जब गणेन-दादाका रचा हुआ 'लज्जामें भारतका यश गाऊँ कैसे' गीत हिन्दू-मेलामें

गाया जाता था। युवावस्थामें ही उनकी जब मृत्यु हुई थी तब मेरी उमर बहुत ही कम थी। किन्तु उनकी उस सौम्य-गम्भीर उन्नत गौरकान्त देहको एक बार देखने के बाद कोई उसे भूल नहीं सकता था। उनका एक बड़ा भारी प्रभाव था। वह प्रभाव था सामाजिक प्रभाव। वे अपने चारों तरफके सबोंको खींच सकते थे, बाँध सकते थे; उनके आकर्षणके जोरसे संसारका कुछ भी मानो टूट-फूटकर विश्लिष्ट नहीं हो सकता था।

हमारे देशकी यह खूबी है कि एक-एक ऐसे आदमी देखनेमें आते हैं जो चरित्र की एक खास शक्तिके प्रभावसे समस्त परिवार अथवा ग्रामके केन्द्रस्थलमें अनायास ही अधिष्ठित हो जाते हैं। ये ही अगर ऐसे देशमें जन्म लेते जहाँ राष्ट्रीय विषयमें, वाणिज्य-व्यवसायमें और नानाप्रकारके सार्वजनिक कार्योंमें सर्वदा ही बड़े-बड़े दल बनते रहते हैं, तो स्वभावतः ही वे गणनायक हो सकते थे। बहु मानवको मिलाकर एक-एक प्रतिष्ठान रच डालना एक विशेष प्रकारकी प्रतिभाका काम है। हमारे देशमें वह प्रतिभा केवल अख्यात-रूपमें अपना काम करके विलुप्त हो जाती है। मेरा खयाल है, इस तरहसे शक्तिका काफी अपव्यय होता रहता है; मानो यह ज्योतिष्कलोकसे नक्षत्र तोड़कर उससे दियासलाईका काम निकालना है।

इनके छोटे भाई गुणेन्द्र-दादाकी (अवनीन्द्रनाथके पिता; सन् १८४७-८१) मुझे खूब याद है। उन्होंने भी घरको बिलकुल परिपूर्ण कर रखा था। आत्मीय बन्धु आश्रित-अनुगत और अतिथि-अभ्यागतोंको उन्होंने अपनी विपुल उदारताके वेष्टनमें बाँध रखा था। वे अपने दक्षिणके बरंडेमें, दक्षिणके बगीचेमें, तालाबके पक्के घाटपर मछली पकड़नेकी सभामें मूर्तिमान दाक्षिण्यके समान विराजा करते थे। सौन्दर्य-बोध और गुणग्राहितासे उनका भरा-हुआ सुन्दर शरीर-मन मानो छलकता रहता था। नाट्य-कौतुक और आमोद-उत्सवके नाना संकल्प उनमें पनपकर नये-नये विकास पानेकी चेष्टा किया करते थे। शैशवके अनधिकार-वश हमलोग उनके उन उद्योगोंमें सब समय प्रवेश नहीं कर सकते थे; किन्तु उत्साहकी लहरें चारों तरफसे आ-आकर हमारे औत्सुक्यपर बार-बार आघात किया करती थीं। मुझे अच्छी तरह याद है, बड़े भाई साहबने एक बार कैसा-तो एक विचित्र कौतुक-नाट्य (Buslesque) रचा था। प्रतिदिन दोपहरको गुणेन्द्र-दादाकी बड़ी बैठकमें

उसका रिहर्सल चला करता था। हमलोग भीतरवाले मकानके बरांडेमें खड़े-ख
मुंह बाए उत्कंठासे उस कौतुक-नाटकके अट्टहास्य-मिश्रित अद्भुत गानोंका कुछ-कु
हिस्सा सुन पाते थे; और साथ ही अक्षय मजूमदार महाशयका उद्दाम नृत्य
थोड़ा-बहुत देख लेते थे। गानेका दो-एक बोल अब भी मुझे याद है—

"ऐसे बोल न बोलो, प्रियतम, ऐसे बोल न बोलो ;
आकर फूलमें, मेरे प्रियतम, यहाँ जहर न घोलो।
बड़ी हँसीकी बात, पिया, यह बड़ी हँसीकी बात ;
हँसी-खेलमें आज हमारी किसी होगी मात!
चुप-चुप, दुश्मन बोल उठेंगे,
हाः हाः हाः हाः लोग हँसेंगे!"

इतनी बड़ी कौनसी हँसीकी बात थी, सो आज तक मेरी समझमें नहीं आया, मगर हाँ, 'किसी समय समझमें आयेगा' इसी आशामें उस समय मेरा मन हिंडोलेमें झूलने लगा था।

एक अत्यन्त मामूली बातसे कैसे मैंने गुणेन्द्र-दादाके स्नेहको अपने प्रति विशेष रूपसे उद्बोधित किया था, उसकी मुझे याद आ रही है। स्कूलमें मुझे कभी भी कोई इनाम नहीं मिला, सिर्फ एक बार सच्चरित्रके पुरस्कार-स्वरूप 'छन्दोमाला' पुस्तक जरूर मिली थी। हम तीनोंमें सत्यप्रसाद ही पढ़ने-लिखनेमें सबसे तेज था। उसे एक बार परीक्षामें अच्छे नम्बरोंसे पास करनेके उपलक्षमें स्कूलसे इनाम मिला था। उस दिन स्कूलसे लौटते ही गाड़ीसे उतरकर मैं सीधा गुणेन्द्र-दादाके पास इसकी खबर देने पहुंचा। वे बगीचेमें बैठे थे। मैंने दूरसे ही शोर मचाते हुए घोषणा की, "गुणेन-दादा, सत्यप्रसादको इनाम मिला है!" उन्होंने प्रसन्न हँसी हँसकर मुझे अपने पास खींचते हुए कहा, "तुम्हें इनाम नहीं मिला?" मैंने कहा, "नहीं, मुझे नहीं मिला, सत्यप्रसादको मिला है।" इससे वे बहुत ही खुश हुए। खुद मुझे इनाम न मिलनेपर भी मैं जो सत्यप्रसादको इनाम मिलनेकी इतनी खुशी मना रहा था, इसे उन्होंने मेरा एक खास सद्गुण समझा। और इस बातको उन्होंने मेरे सामने ही औरोंसे कहा। इसमें मेरे लिए भी कोई गौरवकी बात हो सकती है, इसकी मुझे कल्पना भी नहीं थी। सहसा उनसे प्रशंसा पाकर मैं विस्मित हो

गया। इस तरह मुझे इनाम बगैर मिले ही इनाम मिल गया; पर यह अच्छा नहीं हुआ। मेरा तो खयाल है, बच्चोंको देना अच्छा, पर इनाम देना अच्छा नहीं। बच्चे बाहरकी तरफ देखें, अपनी तरफ न देखें, यही उनके लिए स्वास्थ्यकर है।

दोपहरको खाने-पीनेके बाद गुणेन-दादा दफ्तर आया करते थे। दफ्तर उनके लिए क्लब-सा था; उसमें कामके साथ हास्यालापका बहुत ज्यादा विच्छेद नहीं था। दफ्तरमें वे एक सोफेपर आरामसे बैठते थे, और उस मौकेपर मैं धीरेसे उनकी गोदके पास जा बैठता। वे अकसर मुझे भारतवर्षके इतिहासकी कहानी सुनाया करते। क्लाइवने भारतमें अंग्रेजी राज्य कायम करके अन्तमें देश लौटकर गलेमें उस्तुरा भोंककर आत्महत्या की थी, यह बात उनसे सुनकर मुझे बड़ा-भारी आश्चर्य हुआ था। एक तरफ तो भारतवर्षका नया इतिहास बन रहा था, किन्तु दूसरी ओर मनुष्यके हृदयके अन्धकारमें यह कैसा वेदनाका रहस्य प्रच्छन्न था! बाहर जब कि ऐसी सफलता हो, भीतर तब इतनी निष्फलता कैसे हो सकती है! मैंने इस बारेमें बहुत सोचा था। किसी-किसी दिन गुणेन-दादा मेरा रंग-ढंग देखकर समझ जाते कि मेरी जेबमें एक कापी छिपी हुई है। जरा-सी सै पाते ही वह आवरण मेंसे निर्लज्ज रूपसे बाहर निकल आती थी। गुणेन-दादा अत्यन्त कठोर समालोचक थे; यहाँ तक कि उनकी राय विज्ञापनमें छापी जाती तो उससे काम निकल सकता था। फिर भी, मुझे खूब याद है, किसी-किसी दिन मेरे कवित्वमें लड़कपनकी मात्रा इतनी ज्यादा होती कि वे ठहाका मारकर हँस देते। भारत-माताके सम्बन्ध में मैंने एक कविता लिखी थी; उसकी किसी-एक पंक्तिके अन्तमें शब्द था 'निकट'। न तो मुझमें उस शब्दको दूर भेजनेका सामर्थ्य था और न किसी कदर उसकी संगत तुक ही मिला पा रहा था। लिहाजा बादकी पंक्तिके अन्तमें मुझे मजबूर होकर 'शकट' बिठा देना पड़ा। हालाँ कि उस जगह 'शकट' आनेका बिलकुल रास्ता नहीं था, किन्तु फिर भी तुकका तकाजा ऐसा था कि उसने किसी युक्तिकी एक भी न सुनी, और इसलिए बिना कारण ही वहाँ मुझे 'शकट' खींच लाना पड़ा था। गुणेन-दादाके प्रबल हास्यका धक्का खाकर घोड़ों-समेत 'शकट' जिस दुर्गम पथसे आया था उसी पथसे कहाँ अन्तर्धान हो गया, आज तक उसका कुछ पता ही न चला।

बड़े दादा (द्विजेन्द्रनाथ) तब दक्षिणके बरंडेमें बिस्तरपर बैठे, सामने एक डेस्क रखे, 'स्वप्न-प्रयाण' लिख रहे थे। गुणेन भाई साहब भी रोज सबेरे हमारे इस दक्षिणके बरंडेमें आकर बैठते थे। रस-भोगमें उनका गभीर आनन्द मेरे कवित्व-विकासके लिए वसन्त-पवनका काम करता था। बड़े दादा लिख भी रहे थे और सुना भी रहे थे; और इधर गुणेन-दादाके बार-बार उच्चहास्यसे बरंडा कांप-कांप उठता था। वसन्तमें आमके बौर जैसे असमयमें झड़कर वृक्षके नीचे बिछ जाते हैं, उसी तरह 'स्वप्न-प्रयाण' के कितने परित्यक्त छिन्न पत्र घर भरमें फैले रहते थे उसका कोई ठीक नहीं। बड़े दादाकी कल्पनामें ऐसी जबरदस्त प्राण-शक्ति थी कि जितनेकी जरूरत होती उससे कहीं ज्यादा उन्हें प्रयोग करनी पड़ती। इसीलिए उन्हें बहुत-सा लिखकर फेंक देना पड़ता था। उन्हें अगर कोई बटोरकर रख सकता तो बंगला-साहित्यकी एक डाली भर जाती।

तबके इस काव्य-रसके भोजमें हमें भी लुके-छिपे कुछ-न-कुछ मिल जाया करता था; यानी, कमसे कम हम वंचित नहीं रहते थे। उसकी इतनी बखेर होती कि हम जैसोंके लिए 'प्रसाद'की कमी न रहती। बड़े दादाकी लेखनीमें तब छन्द भाषा और कल्पनाकी ऐसी जबरदस्त बाढ़ आया करती कि नई-नई अशान्त तरंगोंके कलोच्छ्वाससे कूल-उपकूल मुखरित हो उठता। 'स्वप्न-प्रयाण'का सब-कुछ क्या हमलोग समझते थे? किन्तु पहले ही कह चुका हूं कि लाभ पानेके लिए पूरा समझना जरूरी नहीं होता। समुद्रमें रत्न पाता था या नहीं, मालूम नहीं, और पाता भी तो उसकी कीमत नहीं समझता, किन्तु जी भरकर तरंगोंका मजा जरूर लेता, और उसीके आनन्दके आघातसे शिरा-उपशिराओंमें जीवन-स्रोत चंचल हो उठता।

तबकी बातें मैं जितना ही सोचता हूं उतना ही मुझे ऐसा लगता है कि उस जमानेमें 'मजलिस' नामकी जो एक चीज थी वह अब नहीं रही। पुराने जमानेमें जो एक प्रकारकी निविड़ सामाजिकता थी, हमलोग बाल्यकालमें मानो उसकी शेष अस्तच्छटा देख चुके हों। परस्पर मिलना-जुलना तब खूब घनिष्ट था, लिहाजा मजलिस उस समयकी एक आवश्यक चीज थी। उनलोगोंका तब ज्यादा आदर था जो मजलिसी होते थे। अब, लोग सिर्फ कामके लिए आते हैं, मिलने आते हैं, किन्तु मजलिस जमानेके लिए नहीं आते। आदमीके पास अब न तो समय है और

न घनिष्टताका वह भाव ही है। उस जमानेमें घरपर कितनोंका आना-जाना देखा करता था। हँसी और गपशपसे वरंडा और बैठक मुखरित रहती थी। अपने चारों तरफ ऐसे विभिन्न व्यक्तित्वका समावेश कर सकना और हास्य-कौतुक गपशप जमा सकना – यह एक प्रकारकी विशेष शक्ति है ; और वह शक्ति अब न-जाने कहाँ गायब हो गई। आदमी अब भी हैं; पर वे वरंडे और बैठकखाने अब सदा सूने-सूने लगते हैं। तबका साराका सारा असबाब आयोजन और क्रिया-कर्म सब-कुछ पाँच जनोंके लिए था, इसीलिए उसमें जो ठाटबाट था वह उद्धत नहीं था। आजकलके बड़े-आदमियोंके घरकी सजावट पहलेसे बहुत बढ़ी-चढ़ी होती है, किन्तु वह निर्मम है, वह बगैर परहेजके उदार और सम-दृष्टिसे आह्वान करना नहीं जानती। खुला बदन, मैली चादर, और सहास्य चेहरे बिना हुकुमके प्रवेश करके वहाँ आसन नहीं जमा सकते। हमलोग आजकल जिनकी नकल करके मकान बनाते और सजाते हैं, अपनी पद्धतिके अनुकूल उनके भी समाज है, और उनकी सामाजिकता भी बहुव्याप्त है। पर हमारे यहाँ मुश्किल यह देखनेमें आती है कि हमारी सामाजिक पद्धति टूट गई है और साहबी सामाजिक पद्धति गढ़नेका कोई उपाय नहीं है। नतीजा यह है कि प्रत्येक घर निरानन्द हो गया है। आजकल कामके लिए, देश-हितके लिए, अनेकोंको लेकर सो हम सभा करते हैं ; किन्तु, किसी कामके लिए नहीं, बल्कि एकत्रितोंके लिए ही एकत्रितोंका जमकर बैठना, महज इसीलिए कि 'आदमी अच्छे लगते हैं' उनके इकट्ठे होनेके लिए नाना उपलक्ष्योंकी सृष्टि करना – यह बात अब बिलकुल उठ ही गई है। इतनी बड़ी सामाजिक कृपणता-जैसी भद्दी बात संसारमें और कुछ नहीं हो सकती। यही कारण है कि उस जमानेमें जिन लोगोंने खुले हृदयकी हास्यध्वनिसे रोजमर्राके जीवन-भारको हलका कर रखा था, आज वे और-किसी देशके आदमी मालूम होते हैं।

अक्षयचन्द्र चौधरी

बाल्यकालमें काव्यालोचनाके लिए मुझे एक अनुकूल सुहृद मिल गये थे। स्वर्गीय अक्षयचन्द्र चौधरी महाशय ज्योति-दादाके सहपाठी मित्र थे। वे अंग्रेजी साहित्यमें एम० ए० थे। उस साहित्यमें जैसी उनकी व्युत्पत्ति थी वैसा ही अनुराग

था। दूसरी ओर, बंगला-साहित्यमें वैष्णव-पद-कर्ता कवि कंकण, रामप्रसाद, भारतचन्द्र, हारू ठाकुर, राम बसु, विधु बाबू, श्रीधर कथक आदिके प्रति भी उनके अनुरागकी सीमा नहीं थी। बंगलाके न-जाने कितने टप्पेटप्पे गाने उन्हें याद थे! उन गानोंको वे, सुर या बेसुर जैसे भी बनता, जान लड़ाकर गाया करते थे। इस विषयमें श्रोताओंकी आपत्ति भी उनके उत्साहका कुछ नहीं कर पाती थी। साथ ही साथ ताल बजानेके विषयमें भी उनके भीतर-बाहर कहीं भी कोई बाधा नहीं थी। टेबिल हो चाहे किताब, वैध-अवैध जो-कुछ हाथ पड़ जाता उसीपर लगातार थप्पियाँ मार-मारकर मजलिस जमाये रखते। आनन्द उपभोग करनेकी शक्ति उनकी असाधारण उदार थी। जी भरकर रस-ग्रहण करनेमें उनके लिए कहीं कोई बाधा ही नहीं थी, और न हृदय खोलकर गुण गानेमें उनमें कभी कोई कंजूसी ही पाई गई। गीत और खण्डकाव्य लिखनेमें भी उनकी तेजी असाधारण थी। और फिर मजेकी बात यह कि अपनी रचनाओंके सम्बन्धमें उनमें लेशमात्र भी ममत्व नहीं था। कितने ही फटे पन्नोंमें उनकी कितनी ही रचनाएँ इधर-उधर पड़ी फिरती थीं, उनकी तरफ उनका कभी ध्यान ही नहीं जाता था। रचनाके सम्बन्धमें जैसा उनमें प्राचुर्य था वैसी ही उदासीनता थी। उनके 'उदासिनी' शीर्षक एक काव्यने उस समय 'बंगदर्शन'में काफी प्रशंसा पाई थी। उनके बहुतसे गाने मैंने लोगोंको गाते हुए पाया है; और मजा यह कि कौन उनके रचयिता है सो कोई नहीं जानता।

साहित्य-भोगका अकृत्रिम उत्साह साहित्यके पाण्डित्यकी अपेक्षा बहुत ज्यादा दुर्लभ है। अक्षय बाबूका वह असीम उत्साह हमलोगोंकी साहित्य-बोध-शक्तिको सचेतन करता रहता था।

जैसी उनकी साहित्यमें उदारता थी, वैसी ही बन्धुत्वमें। अपरिचित समामें वे 'जल बिन मीन' थे, किन्तु परिचितोंमें वे उमर या विद्या-बुद्धिका कोई भेदभाव ही न रखते थे। बच्चोंमें वे बच्चे थे। बड़े भाइयोंकी सभामेंसे जब वे बहुत रात बीते विदा होते तब कितने ही दिन मैं उन्हें पकड़कर अपने पढ़नेके कमरेमें खींच ले गया हूं। वहाँ भी रेंड़ीके तेलके टिमटिमाते हुए दियाके उजालेमें हमारी पढ़नेकी टेबिलपर बैठकर सभा जमानेमें उन्हें किसी प्रकारका संकोच नहीं था। इस तरह उनसे मैंने कितने ही अंग्रेजी काव्योंकी उच्छ्वसित व्याख्या सुनी है, कितने ही तर्क

वितर्क और आलोचना-समालोचना की हैं। अपनी रचनाएँ भी उन्हें काफी सुनाई हैं; और उनमें अगर कहीं जरा भी कुछ अच्छाई होती तो उसपर उनकी काफी प्रशंसा प्राप्त की है।

गीत-चर्चा

साहित्य-शिक्षा और भाव-चर्चामें, बचपनसे ही ज्योति-दादा मेरे प्रधान सहायक थे। वे स्वयं उत्साही थे और दूसरोंको उत्साह देनेमें आनन्द अनुभव करते थे। मैं बिना किसी बाधाके उनके साथ भाव और ज्ञानकी आलोचनामें प्रवृत्त होता। बालक होनेकी वजहसे उन्होंने कभी भी मेरे प्रति अवज्ञा नहीं दिखाई। मुझे उन्होंने बड़ी-भारी स्वाधीनता दे रखी थी; उनके संस्रवसे मेरे भीतरका संकोच बिलकुल जाता रहा था। मुझे ऐसी स्वाधीनता देनेकी और कोई हिम्मत नहीं कर सकता था। इसके लिए शायद किसी-किसीने उनकी निन्दा भी की थी। किन्तु प्रखर ग्रीष्मके बाद जैसे वर्षा आवश्यक है, ठीक वैसे ही मेरे लिए आशैशव बाधा-निषेधके बाद यह स्वाधीनता भी अत्यावश्यक थी। उस समय यदि यह बन्धन-मुक्ति न होती तो चिर-जीवन मेरे अन्दर एक पंगुता रह जाती। प्रबलवर्ग हमेशा ही स्वाधीनताके अपव्यवहारके विषयमें शिकायत करके स्वाधीनताको दबाये रखनेकी कोशिश करता रहता है, किन्तु, स्वाधीनताका अपव्यय करनेका अगर अधिकार न हो तो उसे स्वाधीनता ही नहीं कहा जा सकता। अपव्ययके द्वारा ही सद्व्ययकी जो शिक्षा मिलती है वही असल शिक्षा है। कमसे कम मैं इस बातको जोर देकर कह सकता हूँ कि स्वाधीनताके द्वारा जो-कुछ उत्पात हुआ है उसने मुझे उत्पात-निवारणके पथपर ही पहुंचा दिया है। ताड़न-शासन और पीड़नके द्वारा, कान मलने और कानमें मंत्र देनेके द्वारा, मुझे जो भी कुछ दिया गया है उसमेंसे मैंने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। जब तक मुझे अपनेमें आप छुटकारा नहीं मिला तब तक निष्फल वेदनाके सिवा और कुछ भी मैं प्राप्त नहीं कर सका था। ज्योति-दादाने ही सम्पूर्ण निःसंकोचतासे समस्त भलाई-बुराईमेंसे मुझे अपने आत्मोपलब्धिके क्षेत्रमें छोड़ दिया था, और तभीसे मेरी अपनी शक्ति अपने काँटों और फूलोंका विकास

करनेके लिए तैयार हो सभी हैं। अपनी इस अभिज्ञतामें मैंने जो शिक्षा पाई है उसमें मैं बुराईसे भी उतना नहीं डरता हूं जितना भला बनानेके उपद्रवमें। धर्मनैतिक और राष्ट्रनैतिक दण्ड-विधायक म्युनिटिव-पुलिसके चरणोंमें मेरा दूर ही से दण्डवत है। उसमें जिस दासत्वकी सृष्टि होती है उसके समान सर्वनाशक दूसरी कोई बला ही नहीं।

किसी समय पियानो बाजेपर ज्योति-दादा नये-नये सुर तैयार करनेमें तल्लीन हो गये थे। प्रतिदिन ही उनकी उंगलियाँ नाचनेके साथ-साथ सुरोंकी वर्षा होती रहती थी। मैं और अक्षय बाबू दोनों जने उनके सद्योजात सुरोंको शब्दोंमें बाँध रखनेकी चेष्टामें नियुक्त थे। गीत बनानेकी शिक्षा मेरी इस तरह शुरू हुई थी।

अपने परिवारमें बचपनसे ही हम गीत-चर्चामें ही पनपे और बड़े हुए हैं। मेरे लिए एक सुविधा यह भी थी कि अत्यन्त सहजभावसे ही गीत मेरी सम्पूर्ण प्रकृतिमें प्रवेश कर गया था। इसमें एक असुविधा भी थी, यह कि कोशिश करके गाना सीखनेका समुचित अभ्यास न होनेसे, शिक्षा पक्की नहीं हुई। 'संगीत-विद्या' कहनेसे जो समझा जाता है, उसपर मैं दखल नहीं कर सका।

साहित्यके साथी

हिमालयसे लौटनेके बाद मेरी स्वाधीनताकी मात्रा क्रमशः बढ़ती ही गई। नौकरोंका शासन खतम हो गया, स्कूलका बन्धन नाना चेष्टाओंसे तोड़ डाला, घरपर भी शिक्षकोंकी कोई खास कदर नहीं की। हमलोगोंके पूर्व-शिक्षक ज्ञान बाबू मुझे कुछ 'कुमारसम्भव' तथा और-भी दो-एक चीज गैरसिलसिलेसे पढ़ानेके बाद वकालत करने लगे थे। उनके बाद मेरी शिक्षाका भार पड़ा ब्रज-बाबूपर। उन्होंने मुझे पहले ही दिन गोल्डस्मिथके 'विकर ऑफ वेकफील्ड'मेंसे कुछ अनुवाद करनेके लिए दिया। वह मुझे कुछ अच्छा लगा। उसके बाद, शिक्षाके आयोजनको और भी कुछ व्यापक देखकर उनके लिए मैं दुरधिगम्य हो उठा।

घरवालोंने तो मेरी आशा ही छोड़ दी थी। न तो मेरे, और न और-किसीके मनमें इसकी कोई आशा रही कि मैं भविष्यमें कुछ कर सकूंगा। लिहाजा और-किसी

की शक्ति निहित थी यह तो साधारण नहीं थी। इसीलिए 'ऐसी चीज मैं भी, कोशिश करूं तो लिख सकता हूं'—यह बात कभी मेरी कल्पनामें भी नहीं आती।

इसी समय बिहारीलाल चक्रवर्तीका 'सारदामंगल' काव्य-संगीत 'आर्यदर्शन' पत्रमें (वि०सं० १९३०-३१में) प्रकाशित होने लगा था। बहू-रानी इस काव्यके माधुर्यपर अत्यन्त मुग्ध थीं। अधिकांश काव्य हो उन्हें कंठस्थ हो गया था। कविको अक्सर वे निमंत्रण करके खिलाती थीं; और उन्हें अपने हाथका बना एक आसन[1] भी भेंट किया था। इसी सूत्रमें कविके साथ मेरा भी परिचय हो गया। वे मुझपर काफी स्नेह करते थे। सुबह-शाम-दोपहरको जब चाहें मैं उनके घर पहुंच जाता। जैसा उनका शरीर विशाल था मन भी वैसा ही प्रशस्त था। उनके मनको घेरे-हुए कवित्वका एक रश्मिमण्डल उनके साथ-साथ ही फिरा करता था। मानो उनके कवितामय एक-और सूक्ष्म शरीर था; और वही उनका यथार्थ स्वरूप था। उनके अन्दर एक परिपूर्ण कविका आनन्द मौजूद था। जब भी मैं उनके पास गया हूं तभी उस आनन्दकी हवा खा आया हूं। परवर दोपहरके वक्त वे दूसरी मंजिलके एक छोटे-से निभृत कमरेमें, साफ-सुथरे फर्शपर औंधे पड़े-पड़े, गुनगुनाते हुए कविता लिख रहे हैं, ऐसी हालतमें मैं बहुत दिन उनके घर गया हूं। मैं बालक था, फिर भी वे ऐसी उदार हृदयताके साथ मुझे बुलाकर अपने पास बिठाते कि मेरे मनमें लेशमात्र भी संकोच न रह जाता। उसके बाद भावमें विभोर होकर कविता सुनाते और गीत भी गाते। उनका गला ज्यादा सुरीला हो सो बात नहीं, और न बिलकुल बेसुरा ही था;—जो सुर वे गाते उसका एक अन्दाज जरूर मिल जाता था। गम्भीर गद्गद कंठसे आंख मीचकर गाना गाते और जो सुरमें नहीं आता उसे भावसे भर देते थे। उनके कंठके वे गाने अब भी मुझे याद हैं — 'बाला खेलत चाँद-किरणमें', 'को तू बाला किरणमयी-सी, डोल रही मम ब्रह्मरन्ध्रमें।' उनके गीतोंमें सुर बैठाकर कभी-कभी मैं भी उन्हें गान सुनाने जाता था।

कालिदास और वाल्मीकिके कवित्वपर वे मुग्ध थे। मुझे याद है, एक दिन उन्होंने मुझे 'कुमारसम्भव'का पहला श्लोक खूब गला खोलकर पढ़ते हुए कहा

---

१ बिहारीलालका एक काव्य है 'माघका आसन' (वि० १९४५)

था, "इसमें जो एकके बाद एक इतने 'आ'-स्वरका प्रयोग हुआ है वह आकस्मिक नहीं है; हिमालयकी उदार महिमाको इस 'आ'-स्वरके द्वारा विस्फारित करके दिखानेके लिए ही 'देवतात्मा' से आरम्भ करके 'नगाधिराज' तक कविने इतने आकारोंका समावेश किया है।"

'बिहारी बाबू जैसी कविता लिखूंगा' — मेरी आकांक्षाकी तब इतनी ही दौड़ थी। और किसी-किसी दिन तो ऐसा खयाल कर बैठता था कि उन्हीं जैसा काव्य लिख रहा हूं। किन्तु, इस गर्वोपभोगमें मुख्यतः बाधा दी बिहारी कविके एक भक्त पाठकने। वे हमेशा मुझे स्मरण करा रखते कि 'मन्दः कवियशःप्रार्थी' में 'गमिष्याम्युपहास्यताम्'। वे निश्चित जानते थे कि मेरे अहंकारको प्रश्रय देनेसे फिर उसे दमन करना दुरूह हो उठेगा, इसीसे केवल कविताके सम्बन्धमें ही नहीं किन्तु मेरे गानेके कंठके विषयमें भी वे कभी भी मेरी प्रशंसा नहीं करना चाहते थे, बल्कि और दो-चार जनोंसे तुलना करके कहते कि उनका गला कैसा मीठा है। मेरे मनमें भी यह धारणा बैठ गई थी कि मेरे गलेमें यथोचित मिठास नहीं है। अपनी कवित्व-शक्तिके सम्बन्धमें भी मेरा मन काफी निराश हो गया था; किन्तु आत्म-सम्मान प्राप्त करनेका यही एकमात्र क्षेत्र बच गया था, इसलिए किसीकी बातोंमें आकर आशा छोड़ देना मैंने ठीक नहीं समझा। इसके सिवा, भीतर जो एक दुर्दमनीय प्रेरणा थी उसे रोक रखना भी किसीके बूतेका रोग नहीं।

रचना-प्रकाशन

अब तक जो-कुछ लिखा था उसका प्रचार आपसके परिचित क्षेत्रमें ही आबद्ध था। इतनेमें 'ज्ञानांकुर' नामका एक मासिकपत्र प्रकाशित होने लगा। उसके संचालकोंने पत्रके नामके लायक एक अंकुरोद्गत कविको भी ढूंढ निकाला, और इस तरह उन्होंने मेरा साराका सारा पद्य-प्रलाप ('वनफूल' और 'प्रलाप', वि०सं० १९३२) बिना सोचे-समझे, प्रकाशित करना शुरू कर दिया। कालके दरबारमें मेरी सुकृति और दुष्कृतिके विचारके समय मालूम नहीं किस दिन उनकी पुकार होगी, और कौनसा उत्साही पियादा उन्हें विस्मृत मासिकपत्रके अन्तःपुरसे

निर्लज्जतासे लोक-समाजमें खींच लायेगा, उन अवज्ञाओंकी दुहाई न सुनेगा, मैं नहीं कह सकता। इतना डर मेरे मनमें अब भी है।

पहले-पहल मैंने जो गद्य-लेख लिखा था वह भी इसी 'ज्ञानांकुर'में निकला था। वह था एक पुस्तककी समालोचना। उसका थोड़ा-सा इतिहास है।

उस समय 'भुवनमोहिनी-प्रतिभा' (वि०सं०१९३३) नामक कविताओंकी एक पुस्तक निकली थी। और साधारण लोगोंकी यही धारणा थी कि पुस्तक 'भुवनमोहिनी' नाम-धारिणी किसी महिलाकी लिखी हुई है। 'साधारणी' पत्रमें अक्षयचन्द्र सरकार महाशय और 'एजुकेशन गजट'में भूदेव बाबू इस कविके अभ्युदयको प्रबल जय-वाद्यके साथ घोषित कर रहे थे।

उस जमानेके मेरे एक मित्र हैं, जिनकी उमर मुझसे ज्यादा है। वे मुझे बीच बीचमें 'भुवनमोहिनी'के हस्ताक्षर-युक्त पत्र लाकर दिखाया करते। 'भुवनमोहिनी' की कवितापर वे मुग्ध हो गये थे, और उनके ठिकानेपर भक्ति-उपहार-स्वरूप वस्त्र-पुस्तकादि भेजा करते थे।

इन कविताओंमें जगह-जगह भाव और भाषामें ऐसा असंयम था कि उन्हें महिला-कविकी रचना समझनेमें मुझे अच्छा नहीं लगता। और चिट्ठियोंको देखते हुए भी पत्र-लेखकको स्त्री-जातीय समझना असम्भव था। किन्तु मेरे इस संशयसे मित्रकी निष्ठामें कोई फर्क नहीं आया, उनकी प्रतिमा-पूजा यथावत् चलती रही।

मैंने फिर, 'भुवनमोहिनी-प्रतिभा', 'दुःखसंगिनी' और 'अवसर-सरोजिनी' इन तीन पुस्तकोंके आधारपर 'ज्ञानांकुर'में एक समालोचना लिख डाली। समालोचना बड़े ठाठसे यानी आडम्बरके साथ लिखी थी। उसमें मैंने अपूर्व पाण्डित्यके साथ प्रतिपादन किया था कि खण्डकाव्यके क्या तो लक्षण होने चाहिए और क्या गीतिकाव्यके। सुविधाकी बात इतनी ही थी कि छापेके अक्षर सभी समान निर्विकार थे, उनका चेहरा देखकर कुछ भी पता नहीं लग सकता था कि लेखक कैसा है और उसकी विद्या-बुद्धिकी दौड़ कहाँ तक है। मेरे मित्र अत्यन्त उत्तेजित होकर दौड़े आये, और बोले, "एक बी० ए० तुम्हारे उस लेखका जवाब लिख रहे हैं!" 'बी० ए०' सुनते ही मेरी तो जबान बन्द हो गई। बी० ए०! बचपनमें सत्य

प्रसादने बरंडेमें 'पुलिस' 'पुलिस' पुकारकर मेरी जैसी दशा कर दी थी, इन मित्रने भी आज वही दशा कर दी। मैं आँखोंके सामने स्पष्ट देखने लगा कि खण्डकाव्य और गीतिकाव्यके सम्बन्धमें मैंने जो कीर्तिस्तम्भ खड़ा किया था, बड़े-बड़े उद्धरण के निर्मम आघातसे वह सबका सब धूलमें मिल गया है और पाठक-समाजमें मेरा मुह-दिखानेका रास्ता बिलकुल ही बन्द हो गया है। 'अशुभ लग्नमें जनमी थी तू, अब समझा, री समालोचना!' बड़े उद्वेगमें दिन कटने लगे। किन्तु अन्ततोगत्वा देखा यह गया कि बी० ए० समालोचकजी बाल्यकालके उस पुलिसमैनकी तरह ही अदृश्य रह गये।

भानुसिंहकी कविता

पहले ही बता चुका हू कि अक्षयचन्द्र सरकार और सारदाचरण मित्र द्वारा संकलित 'प्राचीन काव्य-संग्रह'को मैं बड़े आग्रहके साथ पढ़ा करता था। उनकी मैथिली-मिश्रित भाषा मेरे लिए दुर्बोध थी। और, सम्भवत. इसीलिए इतने अध्यवसायके साथ मैं उसमें प्रवेश करनेकी चेष्टा कर रहा था। पेड़के बीचमें जो अंकुर प्रच्छन्न है और जमीनके नीचे जो रहस्य अनाविष्कृत है उसके प्रति जैसा मैं एक तरहका कुतूहल अनुभव कर रहा था, प्राचीन पद-कर्ताओंकी रचनाओंके विषयमें भी मेरा ठीक वही भाव था। आवरण खोलते-खोलते अपरिचित भण्डार में एक-आध काव्यरत्न दिखलाई देगा, इसी आशाने मुझे उत्साहित कर रखा था। इस रहस्यके गहरे पानी पैठकर दुर्गम अन्धकारमेंसे जब कि रत्न निकालनेकी चेष्टामें था तब अपनेको भी एक बार ऐसे रहस्य-आवरणमें लपेटकर प्रकट करनेकी इच्छा मुझपर भूतकी तरह सवार हो गई।

इसके पहले अक्षय बाबूसे मैंने अंग्रेज बालक-कवि चैटर्टनका वर्णन सुना था। उनका काव्य कैसा है, सो मैं नहीं जानता था। शायद अक्षय बाबू भी विशेष कुछ नहीं जानते थे; और जानते होते तो शायद रस-भंग होनेकी पूरी सम्भावना थी। किन्तु उनके किस्सेमें जो एक नाटकाना था उसने मेरी कल्पनाको खूब सर-गरम

कर दिया। चैटर्टनने प्राचीन कवियोंकी नकल करके ऐसी कविताएँ[1] लिखी थीं कि अधिकांश पाठक उनकी वास्तविकताको जान ही न पाये। अन्तमें सोलह सालकी उमरमें उस हतभाग्य बालक-कविको आत्महत्या करनी पड़ी थी। और मैं, उस आत्महत्याके अनावश्यक अंशको छोड़कर, कमर बाँधकर द्वितीय चैटर्टन बननेकी कोशिश करने लगा।[2]

---

[1] Rowley Poems. Thomas Rowley, an imaginary 16th cent. Bristol poet and monk.

[2] टॉमस चैटर्टनने १७५२ ई०में एक गरीब-घरमें जन्म लिया था। ब्रिस्टॉलमें रैडक्लिफ पहाड़पर १५वीं सदीमें स्थापित सेण्ट मेरी गिर्जाके दफ्तरमें 'कौनिंगका रत्नागार' नामका एक तीन सौ वर्षका पुराना ओक-लकड़ीका सन्दूक था, जिसमें बहुतसे प्राचीन कागजात पड़े थे। दस सालकी उमरमें चैटर्टन अपने चाचाके साथ वहाँ गये; और उन्हें वह स्थान बहुत अच्छा लग गया। फिर तो वे प्रतिदिन वहाँ जाने लगे। क्रमशः उक्त सन्दूकपर उनकी नजर पड़ी। उन्होंने देखा कि उसमें ३०० वर्ष पहलेके सुप्रवीण कथकगण धूलि-धूसरित पाण्डुलिपियोंके जंजालमें मूक पड़े हुए हैं। बहुत दिन तक वे उन पाण्डुलिपियोंका अध्ययन-मनन करते रहे। जब उनकी चौदह सालकी उमर हुई तो देखा गया कि उन्होंने १५वीं सदीकी अंग्रेजी भाषा और उस समयकी लिपि तक सीख ली है; और फिर वे १४वीं सदीके कल्पित कवि 'टॉमस रावली'के नामसे पुरातत्त्वाश्रयी कविताएँ लिख-लिखकर प्रकाशित करने लगे। कवि ग्रे, और ऊँचे स्तरके दो-चार विद्वानोंके सिवा कोई भी इस बातको ताड़ न सका। 'टॉमस रावली' ने काफी प्रसिद्धि प्राप्त की। इस बीचमें चैटर्टन एक अटर्नीके यहाँ नौकरी करने लगे थे; और किसी कदर विधवा माँ और अपनी एकमात्र बहनका गुजारा कर रहे थे। अटर्नीको पता लगा तो वह बालक-कविकी टेबिलके खानेमेंसे उसकी रचनाएँ निकालकर फाड़ फेंकने लगा। टॉमसने नौकरी छोड़ दी। इसी समय लन्दनके किसी पत्रकी तरफसे आह्वान पाकर वे लन्दन पहुँच गये। पहले दो, फिर तीन पत्रोंके सम्पादकोंने उनकी रचनाएँ सम्मानके साथ ग्रहण की और बहुत-बहुत प्रशंसा की। चैटर्टन आर्थिक समस्यासे निश्चिन्त होकर खूब परिश्रमके साथ गीति-कविता, आपेरा, प्रहसन और मध्ययुगीय भाषामें पुरानी कहानियाँ इत्यादि लिखने लगे। अठारह सालकी उमरमें लिखनेमें वे इतने तन्मय हो जाते थे कि रात-रातभर लिखते-लिखते भोर कर देते। किन्तु दुर्भाग्यकी गति बड़ी विचित्र होती है। लन्दनमें ही सात सप्ताह बाद पत्र-संचालकोंकी संकीर्ण मनोवृत्ति और बेईमानीके वे शिकार बन गये। उनकी रचनाएँ दाब ली गईं; और फिर उन्हें आर्थिक संकटका सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि कई

एक दिनकी बात है, दोपहरको खूब बादल छा रहे थे। बदलीके दिनके उस छायाच्छन्न अवकाशके आनन्दमें मैं अपने कमरेमें जाकर पलंगपर औंधा लेट गया और एक सिलेटपर लिखने लगा, 'गहन कुसुमकुंज माझे, मृदुल मधुर वंशी बाजे।" लिखकर बहुत खुश हुआ ; और उसी वक्त उसे मैंने ऐसे आदमीको पढ़कर सुनाया जिसके 'समझ' नामकी कोई बला ही नहीं थी। लिहाजा उसने सिर हिलाकर जवाब दिया, 'यह तो बहुत अच्छा लिखा है!'

पूर्वोल्लिखित अपने मित्रसे मैंने एक दिन कहा, "ब्राह्म-समाजकी लाइब्रेरीमें खोज करते-करते बहुत पुरानी एक जीर्ण पोथी हाथ लग गई। उसमेंसे मैं भानुसिंह नामके एक प्राचीन कविके कुछ पद उतार लाया हूं।" इतना कहकर मैंने उन्हें कविताएँ सुनाईं। सुनकर वे अत्यन्त विचलित हो उठे। बोले, "इस पोथीकी मुझे सख्त जरूरत है। ऐसी कविता तो शायद विद्यापति और चण्डीदासके हाथसे भी न निकलती। इसे मैं 'प्राचीन काव्य-संग्रह'में छापनेके लिए अक्षय बाबूको दूंगा।"

तब फिर मैंने अपनी कापी दिखाकर स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि यह लिखाई निश्चय ही विद्यापति-चण्डीदासके हाथकी नहीं है, कारण यह मेरी लिखावट है। मित्रने गम्भीर होकर कहा, "खैर, बुरा नहीं लिखा।"

'भानुसिंहकी पदावली' जब 'भारती'में प्रकाशित (वि०१९३४-३८में) हो रही थी, डॉक्टर निशिकान्त चट्टोपाध्याय तब जर्मनीमें थे। उन्होंने युरोपीय साहित्य से तुलना करके हमारे देशके गीतिकाव्यके विषयमें एक छोटी-सी पुस्तक लिखी

दिन भूखों मरनेके बाद, सन् १७७०के २४अगस्तके दिन, उन्होंने अपनी सारी रचनाएँ (पाण्डलिपियाँ) फाड़-फूडकर नष्ट कर डाली, और साथ ही एक सीसी आर्सेनिक पीकर अपना भी अंत कर दिया। दूसरे दिन सबेरे उनकी प्राणहीन देह जूता-गलीके एक कारखानेके पीछे दफना दी गई। कोई जान भी न पाया कि 'किसने जन्म लिया था' और 'कौन मर गया आज!' उनकी कब्रपर उन्हींके शब्द लिखे गये—"चैटर्टन चुपचाप मर गया।" चैटर्टनको अपनी प्रतिभाके योग्य सम्मान मिला आधी शताब्दी बाद, कवि कीट्स् और कवि शेलीके द्वारा। कीट्सने अपने सुन्दर काव्य 'एण्डिमियन' चैटर्टनके नाम समर्पण किया। और शेली अपने श्रेष्ठ शोक-काव्य 'ऐडोनेस'में उन्हें अमर कर गये। —अनुवादक

थी। उसमें भानुसिंहको उन्होंने प्राचीन पद-कर्ताओंके रूपमें काफी सम्मान दिया था! किसी आधुनिक कविके भाग्यमें ऐसी प्रशंसा आसानीसे नहीं बदी होती। इस पुस्तकपर उन्हें 'डॉक्टर'की उपाधि मिली थी।

भानुसिंह चाहे कोई भी हो, इतना मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि यदि उनकी रचना वर्तमानमें मेरे हाथ पड़ती, तो मैं निश्चित-रूपसे धोखेमें नहीं आता। हालां कि उनकी भाषाको प्राचीन पद-कर्ताओंकी भाषाके रूपमें चला देना असम्भव नहीं था; कारण, यह भाषा उन लोगोंकी मातृभाषा नहीं थी, बल्कि कृत्रिम भाषा थी, और इसीलिए भिन्न-भिन्न कवियोंकी भाषामें कुछ-न-कुछ भिन्नता पाई जाती है, पर उनके भावोंमें कृत्रिमता नहीं होती। भानुसिंहकी कविताको जरा ठोक-बजाकर देखा जाय तो उसका खोटापन तुरन्त पकड़ाई दे सकता है। असलमें, उसमें हमारी देशी बाँसुरीका वह स्वर नहीं जो हृदयको विगलित कर देता है, उसमें तो सिर्फ आजकलके सस्ते आर्गनकी विलायती टुनटुन मात्र है।

स्वदेश-प्रेम

बाहरसे देखनेमें हमारे परिवारमें बहुत-सी विदेशी प्रथाओंका चलन था, किन्तु उसके हृदयमें स्वदेशाभिमान स्थिर दीप्ति लिये जाग रहा था। अपने देशके प्रति पिताजीकी जो आन्तरिक श्रद्धा उनके जीवनके समस्त उतार-चढ़ावमें अक्षुण्ण थी, उसीने हमारे परिवार-भरमें प्रबल स्वदेश-प्रेम संचारित कर रखा था। वस्तुतः वह समय स्वदेश-प्रेमका समय नहीं था। उस जमानेमें शिक्षितवर्गने देशकी भाषा और भाव दोनोंको अपनेसे दूर रख छोड़ा था। हमारे घरमें मेरे सभी बड़े भाई हमेशासे मातृभाषाकी चर्चा करते आये हैं। पिताजीको उनके कोई नये आत्मीय अंग्रेजीमें पत्र लिखते तो उसे वे तुरत लेखकके पास वापस भेज देते थे।

हमारे घरकी सहायतासे उस समय 'हिन्दू-मेला'के नामसे एक मेला चालू हुआ था। नवगोपाल मित्र महाशय उस मेलेके प्रबन्धकर्ता नियोजित हुए थे। भारतवर्षको 'स्वदेश'के रूपमें भक्तिके साथ उपलब्धि करनेकी यह प्रथम चेष्टा थी। मझले भाई साहब (ज्योतिरिन्द्रनाथ)ने उसी समय प्रसिद्ध जातीय संगीत

'मिलके सब भारत-सन्तान' की (१८७४ ई०) रचना की थी। उस मेलेमें देशके स्तव-गान गाये जाते थे और देशानुरागकी कविताएँ पढी जाती थी, देशी शिल्प व्यायाम आदिका प्रदर्शन होता था, और देशके गुणीजनोको पुरस्कृत किया जाता था।

लॉर्ड कर्जनके समयमे दिल्ली-दरबारपर मैंने गद्यमें एक ('अत्युक्ति' शीर्षक) निबन्ध लिखा था, और लॉर्ड लिटनके समयमें 'हिन्दू-मेलाका उपहार' लिखा था पद्यमे। उस जमानेकी अंग्रेज सरकार रूससे ही डरती थी, किन्तु चौदह-पन्द्रह साल के बालक कविकी लेखनीसे उसे कोई डर नही था। यही वजह है कि उस कविता मे वयसोचित उत्तेजना काफी होनेपर भी तबके प्रधान सेनापतिसे लेकर पुलिस-अधिकारी तक कोई भी रत्तमात्र विचलित नही हुआ था; और न 'टाइम्स' पत्रके किसी पत्र-लेखकने इस बालककी धृष्टताके प्रति शासनकर्ताओंकी उदासीनताका उल्लेख करके ब्रिटिश राजत्वके स्थायित्वके सम्बन्धमें गंभीर नैराश्य प्रकट करते-हुए अत्युष्ण दीर्घनिश्वास छोडे थे। वह कविता मैंने हिन्दू-मेलामें पेड़के नीचे खड़े होकर पढी थी। श्रोताओमें नवीनचन्द्र सेन महाशय भी उपस्थित थे, यह बात बडी उमरमें उन्होने मुझे याद दिलाई थी।

ज्योति-दादाके उद्योगसे हमलोगोकी एक सभा[1] सगठित हुई थी, वयोवृद्ध राजनारायण वसु महाशय (सन् १९२६-११९० ई०) उसके सभापति थे। यह स्वादेशिकताकी सभा थी। कलकत्ताकी एक गलीमें किसी पुराने टूटे-फूटे मकानमें हमारी सभा बैठा करती थी। उस सभाके समस्त आयोजन रहस्यसे आवृत थे। वस्तुत उसमे जो गोपनीयता थी वही एकमात्र भयकर थी। हमलोगोंके व्यवहारमें राजा या प्रजाके लिए भयका विषय कुछ भी नही था। हमलोग दोपहरको कहाँ क्या करने जा रहे हैं, सो हमारे घरवालोंको भी नही मालूम था। सभाका दरवाजा रहता था बन्द और घरमें होता था अन्धकार। हमारी दीक्षा होती थी ऋक्‌मंत्रसे और बातचीत होती थी गुपचुप। इसीसे सबको रोमाच होता था। इससे ज्यादा और किसी बातकी जरूरत ही नही थी।

मुझ जैसा अर्वाचीन भी इस सभाका सदस्य था। इस सभामें हमलोग ऐसे एक पागलपनकी गरम हवामें थे कि दिन-रात उत्साहमें मानो उड़ते फिरते थे।

उसका मद गर्व कुछ भी इसमें बाकी नहीं रह गया था। इस सभाका हमलोगोंका मुख्य काम था उत्तेजनाकी आग सुलगाना। नीरस सत्य कहीं-न-कहीं प्राणविघातक हो सकता है, किन्तु उसके और मनुष्यके एक तरहकी गम्भीर घटना होती है। उस घटनाको जागृत रखनेके लिए सभी देशोंके साहित्यमें काफी आयोजन देखनेमें आता है। लिहाजा, आदमी चाहे किसी भी अवस्थामें क्यों न हो, उसके मनमें इसका चस्का लगे बगैर छुटकारा नहीं। हमलोग सभा करके, कल्पना करके, वार्तालाप करके, गाने गाकर उस चस्केकी मन्दाग्निको प्रज्वलित किया करते। इस विषयमें कोई सन्देह हो नहीं हो सकता कि मनुष्यका जो कुछ प्रकृतिगत है और उसके लिए जो-कुछ आदरणीय है उसका सब तरहका रास्ता बन्द कर देनेसे एक प्रकारका जबरदस्त विकार पैदा हो जाता है। एक विशाल राज्य-व्यवस्थामें सिर्फ क्लर्कोंका रास्ता खुला रखनेके मानी हैं मानव-चरित्रकी विविध शक्तियोंको स्वाभाविक स्वास्थ्यकर चलनेका क्षेत्र न देना। राज्यमें वीरधर्मका भी रास्ता रखना चाहिए, नहीं-तो उसका मतलब मानवधर्मको धोखा देना होगा। उसके अभावमें हमेशा गुप्त उत्तेजना अन्तःसलिला होकर बहती रहती है; और वहां उसकी गति बहुत ही अद्भुत और परिणाम अकल्पनीय होता है। मेरा विश्वास है, उस जमानेमें अगर सरकारकी सन्दिग्धता अत्यन्त भीषण रूप धारण कर लेती तो हमलोगोंकी उस सभामें बालकगण जिस वीरत्वका प्रहसन मात्र अभिनय कर रहे थे, वह कठोर ट्रेजेडी (शोकान्त नाटक)में परिणत हो सकता था। अभिनय पूरा हो गया, किन्तु फोर्ट विलियमकी एक ईंट भी नहीं खसकी; और उस पूर्व स्मृतिकी आलोचना करके आज हम हँस रहे हैं।

ज्योति-दादाको चिन्ता हुई कि भारतकी एक निश्चित सार्वजनिक पोशाक होनी चाहिए; और सभामें उन्होंने अपनी तरफसे तरह-तरहके नमूने पेश करना शुरू कर दिया। धोती कार्यक्षेत्रके लिए उपयोगी नहीं और पाजामा विजातीय ठहरा, लिहाजा उन्होंने ऐसा एक समझौता करना चाहा जिससे धोती भी क्षुण्ण

हुई और पाजामा भी खुदा न हो सका। अर्थात् उन्होंने पाजामाके ऊपर धोतीका एक टुकडा तह करके अलग ही एक मल्लकच्छ-सा (सामनेसे पीछे तक लगोट-सी लाँघ) जोड़ दिया। विलायती सोलेके हैटके साथ देशी माफा-मिलाकर ऐसा एक पदार्थ बना दिया गया कि जिसे अत्यन्त उत्साही व्यक्ति भी शिरोभूषणके रूपमें अगीकार नही कर सकता। ऐसी सार्वजनिक पोशाकका नमूना, सर्वजनोंके धारण करनेके पहले, स्वयं एकाकी धारण कर लेना कोई मामूली आदमीका काम नही था; किन्तु ज्योति-दादा बड़े प्रसन्न चित्तसे ऐसी पोशाक पहनकर दोपहरके प्रकाशमें गाडीपर जा सवार होते; आत्मीय और बन्धु-बान्धव, द्वारपाल और सारथि सब-कोई मुह बाये देखते रहते, पर उन्हें कोई परवाह ही नही। देशके लिए प्राण देनेवाले वीर पुरुष बहुत मिल सकते हैं, किन्तु देशके मंगलके लिए ऐसी सर्वजनीन पोशाक पहने गाड़ीपर बैठकर कलकत्ताकी सड़कोंपर घूमनेवाले विरले ही मिलेंगे। हर रविवारको ज्योति-दादा दलबल-सहित शिकारको जाया करते थे। रवाहूत और अनाहूत जो लोग हमारे दलमें आकर जुटते थे उनमेंसे अधिकांशोंको हमलोग नही पहचानते थे। उनमें बढ़ई-लुहार वगैरह सभी श्रेणीके लोग होते। उस शिकारमें रक्तपात ही सबसे बढकर नगण्य था, कमसे कम वैसी कोई घटना मुझे तो याद नही पडती। शिकारके अन्य समस्त अनुष्ठान ही खूब भरपूर मात्रामें होते थे, — हमलोग हत-आहत पशु-पक्षीके अतितुच्छ अभावका किंचिन्मात्र भी अनुभव नही करते थे। सवेरे ही निकल जाते। बहू-रानी ढेरकी ढेर पूड़ियाँ बनाकर हमारे साथ रख देती। और, चूकि यह चीज शिकार करके संग्रह नही करनी पडती थी इसलिए एक दिन भी हमलोगोंको उपवास नही करना पडा। मानिकतल्लामें उजाड बगीचोंकी कमी नही। हमलोग किसी एक बगीचेमें घुस पड़ते। तालाबके घाटपर बैठकर ऊँच-नीच भेदके बिना सब मिलकर एकसाथ पूड़ियोंपर टूट पड़ते और दूसरे ही क्षण पात्रके सिवा और कुछ भी बाकी नही छोड़ते।

इस अहिंसक शिकारी-दलमें व्रज बाबू भी एक मुख्य उत्साही थे। वे मेट्रोपोलिटन कालेजके सुपरिण्टेण्डेण्ट थे और कुछ समय तक हमारे गृह-शिक्षक रह चुके थे। उन्होंने एक दिन शिकारसे लौटते समय रास्तेमें एक बगीचेमें घुसकर

न हो तो उनका ज़लना जरा-कुछ मुश्किल-सा प्रतीत होता। देशके प्रति ज्वलन्त अनुराग यदि उनकी ज्वलनशीलताको बढा सकता तो अब तक वे जरूर बाजारमें चालू रहती।

इतनेमें खबर मिली कि कम उमरका कोई विद्यार्थी कपड़ेकी मिल बनानेकी कोशिशमें लगा हुआ है। पहुँचे हमलोग मिल देखने। असलमें, यह समझनेकी शक्ति तो हममेंसे किसीमें थी नही कि वह कामकी चीज बन रही है या नही, किन्तु विश्वास करने और उम्मीदें बाँधनेकी शक्तिमें हम सबसे आगे रहनेका दम भर सकते थे। यंत्रादि तैयार करनेमें कुछ कर्ज हो गया था, हमलोगोंने उसे चुका दिया। अन्तमें, एक दिन देखा गया कि ब्रज बाबू सिरपर अँगौछा बाँधे हमारे जोड़ासाँको-वाले मकानमें चले आ रहे हैं। आते ही बोले, "हमारी मिलमें यह अँगौछा बनकर तैयार हुआ है।" और फिर, दोनों हाथ उठाकर उन्होंने ताण्डव नृत्य शुरू कर दिया। उनके बालोंमें तब सफेदी आने लगी थी।

अन्तमें, दो-एक सुबुद्धिमान व्यक्ति भी हमारी सभामें शरीक हुए। उन्होंने हमें ज्ञानवृक्षका फल खिल या; और तब हमारा स्वर्गलोक टूट गया।

बचपनमें राजनारायण बाबूके साथ जब हमलोगोंका परिचय हुआ था तब सब दिशाओंसे उन्हें समझनेकी शक्ति हममें नही थी। उनके अन्दर नाना वैपरीत्यो का समावेश था। यद्यपि उनकी दाढ़ी-मूछ सब सफेद हो चुकी थी, फिर भी हमारे दलके छोटेसे छोटे व्यक्तिकी उमरमें और उनकी उमरमें कोई फर्क नजर नही आता था। उनकी बाहरी प्रवीणताने मानो सफेद पुड़िया बनकर उनके हृदयकी नवीनताको सर्वदा सुरक्षित रख रखा था। जीवनके शेष क्षण तक उनके अपर्याप्त हास्योच्छ्वासने कोई बाधा नही मानी थी,—न उमरके गाम्भीर्यकी न अस्वास्थ्यकी और न गार्हस्थिक दु:ख-कष्टकी, न मेधया, न बहुना श्रुतेन, कोई भी किसी भी हालतमें उनके हँसीके वेगको न रोक सका था। एक ओर तो उन्होंने अपने जीवन और घर-गृहस्थीको सम्पूर्णत ईश्वरके आगे समर्पित कर रखा था और दूसरी ओर देशकी उन्नतिके लिए उनकी साध्य-असाध्य परिकल्पनाओंका अन्त न था। रिचर्डसनके (हिन्दू कालेज, १८३५-४८ ई०) वे प्रिय छात्र थे, अंग्रेजी-विद्यामें ही वे बचपनसे पले थे, किन्तु फिर भी अनभ्यासकी समस्त बाधाओं

को हटाकर उन्होंने बंगला भाषा और साहित्यमें पूर्ण उत्साह और श्रद्धाके वेगमें प्रवेश किया था। वैसे वे अत्यन्त सीधे-सादे आदमी थे, किन्तु तेज उनमें कूट-कूटकर भरा हुआ था। देशके प्रति उनका जो प्रबल अनुराग था वह उसी तेजके बदौलत। देशकी सम्पूर्ण खर्वता और दीनताको वे दग्ध कर देना चाहते थे। उनकी आँखें दोनों जलती रहती थीं, उनका हृदय दीप्त हो उठता था; उत्साहके साथ हाथ हिलाते हुए वे हमलोगोंके साथ गाना शुरू कर देते थे, गलेका सुर मिले चाहे न मिले, इसकी उन्हें कुछ परवाह ही नहीं थी—

बाँधेंगे हम एक सूत्रमें लाख जनोंका मन,
झोकेंगे हम एक काममें लाख-लाख जीवन।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस भगवद्भक्त चिर-बालकका तेज-प्रदीप्त हास्य-मधुर जीवन, रोग-शोकमें कभी म्लान न होनेवाली उनकी पवित्र नवीनता, हमारे देशके स्मृति-भण्डारमें सदा समादरके साथ सुरक्षित रखनेकी चीज है।

'भारती'

कुल-जमा यह समय मेरे लिए एक उन्मत्तताका समय था। कितनी ही रातें मैंने इच्छापूर्वक बिना सोये ही बिता दी थीं। इसकी कोई जरूरत हो सो बात नहीं, बल्कि, शायद रातको सोना ही स्वाभाविक था इसलिए उसे उलट देनेकी प्रवृत्ति ही इसका कारण था। अपने पढ़नेके कमरेमें क्षीण प्रकाशमें एकान्तमें पुस्तकें पढ़ा करता था, दूर गिरजेकी घड़ीमें पन्द्रह-पन्द्रह मिनटपर टन-टन घंटा बजा करता था,— प्रहर मानो एक-एक करके नीलाम होते रहते थे, और चितपुर रोडपर नीमतल्ला-घाटके यात्रियोंके कंठसे क्षण-क्षणमें 'हरि बोल' ध्वनि होती रहती थी। और, कितनी ही गभीर रातें मैंने तिमंजिलेकी छतपर टबोंमें लगे हुए पौधोंकी छायासे विचित्रित चाँदकी चाँदनीमें, प्रेतकी तरह अकेले बिना कारण घूमते हुए बिताई थीं।

अगर कोई यह समझे कि ये सब बातें कवित्वके सिवा और कुछ नहीं, तो वे गलती करेंगे। पृथिवीकी एक उमर थी जिसे हम भूकम्प और अग्नि-उच्छ्वासका

समय कह सकते हैं। आजकी प्रवीण पृथ्वीमें भी कभी-कभी उस तरहके चांचल्य के लक्षण देखनेमें आते हैं, और तब लोग आश्चर्य करने लगते हैं; किन्तु शुरूकी उमरमें जब उसका आवरण कड़ा नही हो पाया था और भीतर बाष्प बहुत ज्यादा था, तब सदा-सर्वदा ही अकल्पनीय उत्पातोंका ताण्डव हुआ करता था। तरुण अवस्थाके आरम्भमें वह भी एक तरहका ताण्डव था। वे उपकरण जो जीवनको गढ़ते हैं, जब तक जीवनको गढकर पक्का-पुख्ता नही कर देते तब तक जीवनमें उनका उपद्रव चालू रहता ही है।

इसी समय ज्योति-दादाने 'भारती' पत्रिका (प्रकाशन-काल श्रावण १९३४) निकालनेका निश्चय किया। यह हमारे लिए और-एक उत्तेजनाका विषय बन गया। मेरी उमर तब ठीक सोलह सालकी थी। किन्तु मैं 'भारती'के सम्पादक-चक्रके बाहर नही था। इसके पहले ही मैं कम-उमरकी स्पर्धाके आवेगमें 'मेघनाद वध'की एक तीव्र समालोचना लिख चुका था। कच्चे आमका रस होता है अम्लरस, कच्ची समालोचना भी गाली-गलौजके सिवा कुछ नहीं। अन्य क्षमता जब कम होती है तब चुटकियाँ भरनेकी ताकत खूब तीखी हो उठती है। मैं भी इस अमर काव्यपर नाखून गड़ाकर अपनेको अमर बना डालनेकी सबसे सुलभ कोशिश कर रहा था। अपनी इस दम्भपूर्ण समालोचनासे ही मैंने पहले-पहल 'भारती'में लिखना आरम्भ किया था।

प्रथम वर्षकी 'भारती'में ही मैंने 'कवि-कहानी' शीर्षक अपना काव्य प्रकाशित किया था। जिस उमरमें लेखक दुनियाकी और-किसी बातपर उतना ध्यान नही देता जितना कि अपनी अपरिस्फुटताकी छाया-मूर्तिको खूब बड़े रूपमें देखनेमें देता है, यह मेरी उसी उमरकी रचना है। इसीलिए इसका नायक है कवि। वह कवि स्वयं लेखककी सत्ता हो सो बात नही, असलमें लेखक अपनेको जैसा समझने और घोषित करनेकी इच्छा करता है, उसीका रूप है वह। 'इच्छा करता है' कहनेसे भी ठीक मतलब नही निकलता, बल्कि 'इच्छा करना उचित है' कहनेसे अर्थात् जैसा होनेसे सुननेवाले सिर हिलाकर कहें कि 'हाँ, है तो कवि', यह वही चीज है। इसमें विश्वप्रेमका आडम्बर खूब है,— तरुण कविके लिए यह बड़ा उपादेय है, कारण यह सुननेमें खूब बड़ा है और सुनानेमें सहज। अपने मनमें जब

कि सत्य जाग्रत न हुआ हो, दूसरेके मुहकी बात ही तब मुख्य पूंजी होती है, तब अपनी रचनाओंमें सरलता और संयमकी रक्षा करना सम्भव नहीं होता। तब जो स्वतः ही विशाल है उसे बाहरकी दिशामें विशाल बना डालनेकी दुश्चेष्टामें विकृत और हास्यास्पद कर डालना अनिवार्य है। इन बाल्य-रचनाओंको पढ़ते समय जब संकोच अनुभव करता हूँ तब मनमें आशंका होती है कि शायद बड़ी उमरकी रचनाओंमें भी ऐसे अतिप्रयासकी विकृति और असत्यता अपेक्षाकृत प्रच्छन्नरूपमें अवश्य ही रह गई होगी। बड़ी बातको खूब ऊँचे कंठसे कहते हुए निस्सन्देह-रूपसे कहीं-कहीं उसकी शान्ति और गम्भीरता नष्ट की होगी। निश्चय ही कभी-कभी कहनेके विषयसे आगे बढ़कर अपने कंठको ही ऊँचा चढ़ा दिया होगा, और, कालके आगे एक-न-एक दिन उसका भण्डा-फोड़ होगा ही।

मेरी रचनाओंमें यह 'कवि-कहानी' काव्य ही पहले-पहल पुस्तकाकारमें (संवत् १९३५में) निकला था। मैं जब मझले भाई साहबके साथ अहमदाबादमें था तब मेरे किसी उत्साही मित्र (प्रबोधचन्द्र घोष) ने इसे छपी-हुई पुस्तककी शकलमें भेजकर मुझे दंग कर दिया था। उन्होंने यह कोई अच्छा काम किया हो ऐसा मैं नहीं समझता; किन्तु उस समय मेरे मनमें जो भाव पैदा हुए थे उसे 'प्रकाशक को सजा देनेकी प्रबल इच्छा' हरगिज नहीं कहा जा सकता। सजा उन्हें मिली थी, किन्तु पुस्तक-लेखकसे नहीं, पुस्तक खरीदनेवालोंसे। सुना जाता है कि उस पुस्तकके बोझने पुस्तक-विक्रेताओंकी अलमारियों और प्रकाशकके चित्तको लम्बे समय तक भारातुर कर रखा था।

जिस उमरमें 'भारती'में लिखना शुरू किया था उस उमरकी रचनाएँ प्रकाशन योग्य हो ही नहीं सकतीं। बाल्यकालकी रचनाएँ छपानेके संकट बहुत हैं,— बड़ी उमरके लिए अनुताप संचय कर रखनेका ऐसा अच्छा तरीका और कुछ हो ही नहीं सकता। किन्तु इसमें एक सुविधा भी है, और वह यह कि छापेके अक्षरोंमें अपनी रचनाका रूप देखनेका मोह कम-उमरमें जो आराम देता है वह फिर नहीं मिल सकता। दूसरी सुविधा यह है कि 'मेरी रचना किस-किसने पढ़ी, किसने क्या कहा, कहाँ क्या गलती रह गई' इत्यादि विविध चिन्ताओंसे अस्थिर हो उठने और कण्टक-विद्धकी भाँति हड़बड़ाते फिरनेकी रचना-प्रकाशनकी जो व्याधियाँ हैं उनसे

बाल्यकालमें ही पिण्ड छूट जानेसे अपेक्षाकृत स्वस्थ-चित्तसे लिखनेका अवकाश मिल जाता है। अपनी छपी-हुई रचनाओंको सबके सामने नचाते फिरनेकी अवस्था में जितनी जल्दी छुटकारा मिले उतना ही अच्छा है।

तरुण बंगला साहित्यका ऐसा कोई विस्तार और प्रभाव नहीं हुआ जिससे उस साहित्यकी अन्तर्निहित रचना-विधि लेखकोंको अपने अनुशासनमें रख सके। लिखते-लिखते क्रमशः अपने भीतरसे ही ऐसे संयमका उद्भावन कर लेना पड़ता है। इसलिए लम्बे समय तक बहुत-से कूड़े-करकटको जन्म देना अनिवार्य है। कच्ची उमरमें कम पूंजीके बलपर अद्भुत कीर्ति वगैर किये मन स्थिर नहीं होता, यही कारण है कि भंगिमा या शैलीकी अतिशयता और पद-पदपर अपनी स्वाभाविक शक्तिको, और उसके साथ ही सत्य और सौन्दर्यको, दूर तक लंघन कर जानेका प्रयास उन रचनाओंमें प्रकट होता रहता है। इस अवस्थासे निकलकर प्रकृतिस्थ होनेमें अर्थात् जितनी अपनी शक्ति है उसमें आस्था प्राप्त करनेमें समय लगता है।

कुछ भी हो, 'भारती'के अनेक पन्नोंमें मेरी बाल्य-लीलाकी ढेरकी ढेर लज्जा छापेकी स्याहीकी कालिमामें अंकित हुई पड़ी है। उसमें केवल कच्ची लिखावटकी ही लज्जा हो सो बात नहीं, लज्जा है उद्धत अविनय, अद्भुत आतिशय्य और साडम्बर कृत्रिमताके लिए। तब जो-कुछ लिखा था, आज उसके अधिकांशके लिए लज्जा अनुभव जरूर करता हूं, किन्तु फिर भी, तब मनमें जो एक उत्साहका विस्फार (प्रकाश) संचारित हुआ था उसका मूल्य भी कम नहीं। वह काल तो गलती करनेका ही काल था, किन्तु विश्वास करने, आशा करने और उल्लास करनेका समय भी तो वही था बाल्यकाल। उन भूलोंको ईंधन बनाकर यदि उत्साहकी आग जली हो, तो जो राख होनेका है सो राख हो जायगा; किन्तु उस आगका जो काम है वह इह-जीवनमें कभी भी व्यर्थ नहीं होगा।

अहमदाबाद

'भारती'ने द्वितीय वर्षमें पैर रखा। मझले भाई साहबने प्रस्ताव किया कि मुझे वे विलायत ले जायेंगे। पिताजीने जब अपनी सम्मति दी तो अपने भाग्य-विधाताकी इस द्वितीय अयाचित-वदान्यतासे मैं विस्मित हो गया।

विलायत-यात्राके पहले मझले भाई साहब मुझे अहमदाबाद ले गये। वहाँ
जज थे। भाभी-रानी (सत्येन्द्रनाथकी पत्नी ज्ञानदानन्दिनी देवी) और उनके
च्चे सब इंग्लैण्डमें थे, सिर्फ उस घर एक तरहसे सूना था। भाई साहब
हीबागमें रहते थे। बादशाही जमानेका महल था और बादशाहके लिए ही बना
। उस प्रासादके परकोटेके बाहर ग्रीष्मकालकी क्षीण स्वच्छ-तोया साबरमती
ी अपनी बालुका-शय्याके एक किनारेसे बह रही थी। नदी-तटकी ओर प्रासाद
सम्मुख-भागमें लम्बी-चौड़ी खुली छत थी। दिनमें भाई साहब अदालत चले
ते थे; और तब उस विशाल प्रासादमें मैं अकेला रह जाता था। बीच-बीचमें
ूतरोंके मध्याह्न-कूजनके सिवा और किसी तरहका शब्द सुनाई नहीं देता था,
रों ओर निस्तब्ध शान्ति छाई रहती थी। तब मैं एक अकारण कौतूहलसे सूने
मरोंमें घूमा करता था। एक बड़ा कमरा था जिसकी ताकोंमें भाई साहबकी
ताबें सजी रहती थीं। उनमें, बड़े-बड़े अक्षरोंमें छपा-हुआ अनेक चित्रोंवाला
नसनका एक काव्य-ग्रन्थ भी था। वह ग्रन्थ भी मेरे लिए तब उस राजप्रासादकी
रह ही नीरव था। मैं उसके चित्रोंमें बार-बार चक्कर लगाया करता था।
सके वाक्योंको बिलकुल ही न समझता होऊँ सो बात नहीं, किन्तु वे मेरे लिए
ाषयकी अपेक्षा कूजन ही अधिक थे। उस पुस्तकालयमें और एक ग्रन्थ था, वह
ा डाक्टर हेबर्लिन द्वारा सङ्कलित श्रीरामपुरका छपा-हुआ प्राचीन संस्कृत काव्यों
ा संग्रह। उसकी संस्कृत कविताओंको समझना मेरे लिए असम्भव था, किन्तु
स्कृत वाक्योंकी ध्वनियों और छन्दोंकी गतियोंने न-जाने मुझे कितनी दुपहरियोंमें
ामरुशतक'के मृदङ्ग-घात-गम्भीर श्लोकोंमें घुमाया है जिसकी हद नहीं।

शाहीबागके उस महलकी ऊपरकी मंजिलमें एक छोटेसे कमरेमें मेरा आश्रय
ा। उसमें एक बरोंका छत्ता था और उसमें रहनेवाली बरें ही मेरी सहवासिनी
ीं। रातको मैं उस निर्जन कमरेमें अकेला सोता था। किसी-किसी दिन अँधेरेमें
-एक बरें छत्तेसे निकलकर मेरे बिस्तरपर आ पड़ती थीं; और जब मैं करवट
ता तो न-तो वे खुश होती थीं और न मुझे ही उनके तीक्ष्ण स्पर्शसे कोई आराम
ुचता था। शुक्लपक्षकी गहरी रातमें नदीकी तरफकी बड़ी छतपर अकेला
मते रहना मेरे लिए और-एक उपसर्ग था। उस छतपर निशाचर्य करते समय ही

मैंने पहले-पहल अपने निजी सुरके गान (पहला गीत था 'नीरव रजनी देखो मग्न ज्योत्स्नामें') रचे थे। उनमेंसे एक 'अरी ओ मेरी गुलाबी बाला' अब भी मेरे काव्य-ग्रन्थमें आसन जमाये हुए है।

अंग्रेजीमें बहुत ही कच्चा था इसलिए दिन-भर डिक्सनरी देख-देखकर तरह तरहकी किताबें पढ़ना शुरू कर दिया। बचपनसे ही मेरी कुछ आदत-सी हो गई थी कि पूरा न समझनेपर भी पढनेसे मैं रुकता नही था। थोड़ा-बहुत जो-भी-कुछ मेरी समझमे आता उससे अपने मनमें मैं ऐसा कुछ गढ लेता कि उसीसे किसी कदर मेरा काम चल जाता था। इस अभ्यासका भला और बुरा दोनो प्रकारका फल ही आज तक मैं भोगता आया हूं।

विलायत

लगभग छै महीने अहमदाबाद और बम्बईमें बिताकर हमलोग विलायत रवाना हो गये। अशुभ क्षणमें विलायत-यात्राके पत्र मैंने पहले अपने आत्मीयोंको और बादमें 'भारती'को भेजने शुरू किये थे। अब उन्हें विलुप्त करना मेरे बूतेका रोग नही। इन पत्रोमें अधिकाश ऐसे है जिन्हें बचपनकी बहादुरी कहा जा सकता है। अश्रद्धा प्रकट करके, आघात करके, तर्क करके रचनाकी आतशबाजी जलाने का प्रयास था वह। 'श्रद्धा करनेकी, ग्रहण करनेकी, प्रवेश करनेकी शक्ति ही सबसे महान् शक्ति है और विनयके द्वारा ही सबसे बढकर अधिकार विस्तार किया जा सकता है'—कच्ची उमरमें इस बातको मन समझना ही नही चाहता। अच्छा लगना और प्रशसा करना मानो एक तरहका पराभव है, कमजोरी है—ऐसा समझकर बार-बार चुटकियां भरकर, चोट पहुंचाकर, अपनी श्रेष्ठता प्रतिपन्न करनेकी चेष्टा मेरे लिए आज हास्यास्पद हो सकती थी अगर इसकी उद्दण्डता और असरलता मेरे तईं कष्टकर न होती।

बचपनसे बाहरकी दुनियासे मेरा सम्बन्ध नहीके बराबर था। इतनेमें सहसा सत्रह वर्षकी उमरमें विलायतके जन-समुद्रमें पडकर गोते खानेकी ही आशंका थी। किन्तु मझली भाभी-रानी तब अपने बाल-बच्चोके साथ ब्राइटनमें रहती थी और उनके आश्रयमें जा पडनेसे विदेशका पहला धक्का मेरा कुछ बिगाड़ न सका।

जाड़ा शुरू हो गया था। एक दिन रातको घरमें आगके पास बैठा गपशप कर रहा था, इतनेमें लड़कोंने उत्तेजित अवस्थामें आकर कहा, 'बरफ पड़ रही है!' बाहर आकर देखा, कड़ाकेका जाड़ा है, आकाशमें शुभ्र ज्योत्स्ना है और पृथ्वी सफेद बरफसे पट गई है। हमेशासे पृथ्वीको जिस मूर्तिमें देखता आया हूं, यह वह मूर्ति ही नहीं,— मानो यह स्वप्न हो, मानो और-कुछ हो,— सारी नजदीककी चीजें मानो दूर पहुंच गई हों, शुभ्रकाय निश्चल तपस्वी मानो गंभीर ध्यानके आवरणमें आवृत हो गया हो। अकस्मात् घरसे बाहर निकलते ही ऐसा आश्चर्यजनक सौन्दर्य पहले कभी नहीं देखा था।

भाभी-रानीके आदर-जतनसे और लड़कोंके विचित्र उत्पात-उपद्रवोंके आनन्दमें दिन बड़े मजेमें कटने लगे। लड़के मेरी अंग्रेजीके विचित्र उच्चारणसे बड़ा मजा लेने लगे। उनके और-सब खेल-खिलवाड़ोंमें मुझे कोई अड़चन नहीं थी, सिर्फ इस 'मजा लेने'में मैं उनका साथ नहीं दे पाता था। 'warm' शब्दके a-का उच्चारण o-जैसा होता है और 'worm' शब्दके o-का उच्चारण a-जैसा होता है, यह स्वाभाविक ज्ञानसे समझनेका विषय नहीं— इस बातको मैं बच्चोंको कैसे समझाता? मन्दभाग्य हूं मैं जो उनकी हँसीकी यह वर्षा मेरे सरपर बरसी, असल में उसका उपयुक्त क्षेत्र था अंग्रेजी-उच्चारण-विधिका सर। उन दोनों (सुरेन्द्र और इन्दिरा) बच्चोंके मन बहलानेके लिए, उन्हें हँसानेके लिए, आमोद देनेके लिए प्रतिदिन मैं नानाप्रकारके उपाय उद्भावन करता रहता। बच्चे बहलानेकी ऐसी उद्भावनी-शक्ति प्रयोग करनेकी जरूरत उसके बाद और भी बहुत बार हुई है, और आज भी उसकी जरूरत मिटी नहीं है; किन्तु उस शक्तिमें अब उतने प्राचुर्यका अनुभव नहीं करता। बच्चोंको हृदय दान करनेका तब मेरे जीवनमें पहला मौका था, दानका आयोजन इसीलिए ऐसे विचित्र-रूपमें पूर्ण होकर प्रकट हुआ था।

किन्तु, समुद्रके इस पारके घरमेंसे निकलकर समुद्रके उस पारके घरमें घुस बैठनेके लिए तो मैं विलायत गया नहीं था। बात थी, पढ़ूंगा, लिखूंगा, बैरिस्टर होकर देश लौटूंगा। इसलिए ब्राइटनके एक पब्लिक स्कूलमें मैं भरती हो गया। विद्यालयके अध्यक्ष मेरा चेहरा देखते ही बोल उठे, "वाह, तुम्हारा माथा तो बहुत ही सुन्दर है!" (What a splendid head you have!) यह

छोटी-सी बात मुझे जो याद है उसका कारण यह कि घरपर मेरा दर्प हरण करनेके लिए जिनका प्रबल अध्यवसाय जारी था उन्होंने खास तौरसे मुझे यह बात समझा दी थी कि मेरे ललाट और चेहरेका सौन्दर्य संसारके अन्य अनेकोंकी तुलनामें किसी कदर मध्यम श्रेणीमें गिना जा सकता है। आशा है, पाठक इसे मेरा निजी गुण ही समझेंगे कि मैंने उनकी बातपर पूरा विश्वास कर लिया था; और, अपने सम्बन्धमें सृष्टिकर्ताके नानाप्रकार कार्पण्यसे मन-ही-मन दुःख अनुभव किया करता था। इस तरह क्रमशः उनके मतसे विलायत-वासीके मतका पार्थक्य देखकर अकसर मैं गम्भीर होकर इस विचारमें पड़ जाया करता था कि सम्भव है दोनों देशोंकी विचारकी प्रणाली और आदर्श बिलकुल ही भिन्न हों। ब्राइटनके इस स्कूलकी एक बात देखकर मैं विस्मित हो गया था, वह यह कि वहाँके विद्यार्थियोंने मेरे साथ जरा भी रूढ़ व्यवहार नहीं किया था। कभी-कभी तो वे मेरी जेबमें कमला और सेव वगैरह फल ठूसकर भाग जाया करते थे। मेरा खयाल है, विदेशी होनेसे ही मेरे प्रति उनका ऐसा आचरण था।

इस स्कूलमें भी मैं ज्यादा दिन न पढ़ सका। इसमें स्कूलका दोष नहीं। उन दिनों सर तारकनाथ पालित इंग्लैण्डमें थे। वे समझ गये कि इस तरह मेरा कुछ होना-जाना नहीं है। उन्होंने भाई साहबको समझाकर मुझे लन्दन बुला लिया, और शुरू-शुरूमें मुझे एक अलग मकानमें अकेला छोड़ दिया। वह मकान था रिजेण्ट-पार्कके सामने। तब जोरका जाड़ा पड़ रहा था। सामनेके बागमें जो पेड़ थे उनमें एक भी पत्ता नहीं था, बरफसे ढकी दुबली-पतली टेढ़ी-मेढ़ी डालियाँ लिये वे आकाशकी ओर मुँह ताके खड़े थे। देखकर मेरी हड्डियाँ तक जाड़ेसे सिहर उठती थीं। नवागत प्रवासीके लिए शीतकालीन लन्दनसे बढ़कर निर्मम शायद ही कोई स्थान हो। आसपास परिचित कोई भी नहीं था, गली-सड़कें भी ठीकसे नहीं पहचानता था। गरज यह कि घरके अन्दर अकेले चुपचाप बैठकर बाहरकी ओर ताकते रहनेके दिन फिर मेरे जीवनमें वापस आ गये। किन्तु 'बाहर' उन दिनों मनोरम न था, उसके ललाटपर भृकुटि थी, आकाशका रंग था गँदला और आलोक था मृत व्यक्तिके चक्षुताराके समान दीप्तिहीन, दसों दिशाएँ अपनेको सकुचित किये जा रही थीं, जगतमें उदारताका कोई आह्वान ही न था। और

घरके भीतर असबाब कुछ भी न था। दैवसे, मालूम नहीं किस वजहसे, एक हार-मोनियम जरूर पड़ा था। दिन जब छुपनेकी कुछ जल्दी करता और अँधेरा होने लगता तब उस बाजेको लेकर मैं अपनी धुनमें बजाने बैठ जाता। कभी-कभी कोई कोई भारतीय मुझसे मिलने आते थे; उनसे मेरा परिचय बहुत कम होता, किन्तु फिर भी जब वे जाने लगते तो मेरी इच्छा होती कि कोट पकड़कर खींचके बिठा लूं उन्हें।

उस मकानमें रहते समय एक सज्जन मुझे लैटिन पढ़ाने आया करते थे। अत्यन्त दुबले-पतले आदमी थे, कपड़े फटे-पुराने, शीतकालके नग्न पेड़ोंकी तरह ही मानो वे शीतके पंजेसे अपनेको बचानेमें असमर्थ थे। उनकी उमर क्या होगी मुझे पता नहीं, किन्तु यह बात उन्हें देखते ही समझमें आ जाती थी कि वे अपनी उमरसे ज्यादा बूढ़े हो गये हैं। किसी-किसी दिन पढ़ाते समय उन्हें शब्द ढूंढ़े न मिलते थे, और इससे वे लज्जित हो जाते थे। उनके परिवारके सब लोग उन्हें 'सनकी' समझते थे। एक खास 'मत' उनके सरपर सवार हो गया था। वे कहा करते थे, 'संसारमें एक-एक युगमें एक ही समयमें भिन्न-भिन्न देशोंके मानव-समाजमें एक ही प्रकारके भावका आविर्भाव हुआ करता है, अवश्य ही सभ्यताके तारतम्यके अनुसार उस भावका रूपान्तर होता है, किन्तु हवा एक ही है। परस्परकी देखादेखी से एकसा भाव फैल जाता हो सो बात नहीं, जहाँ देखादेखी नहीं है वहाँ भी इसका व्यतिक्रम नहीं होता।' इस मतको प्रमाणित करनेके लिए वे बराबर तथ्य संग्रह करते और लिखते रहते थे। इधर घरमें अन्न नहीं, बदनपर कपड़े नहीं, घरकी स्त्रियोंकी उनके मतके प्रति जरा भी श्रद्धा नहीं और सम्भवतः इस पागलपनके लिए वे उनका सर्वदा तिरस्कार किया करती थीं। किसी-किसी दिन उनका चेहरा देखकर मैं समझ जाता था कि अपने मतके पक्षमें कोई अच्छा प्रमाण मिल गया है और वे कुछ लिख भी आये हैं। उस दिन मैं उस विषयको छेड़कर उनके उत्साहमें और भी उत्साह संचारित कर देता। और, किसी-किसी दिन वे अत्यन्त विमर्ष होकर आते थे और तब समझनेमें देर न लगती कि अब उनसे वह बोझ ढोते नहीं बन रहा है जिसे उन्होंने ग्रहण कर रखा है। उस दिन पढ़ाईमें पद-पदपर बाधा आती रहती, उनकी आँखें न-जाने किस शून्यकी ओर ताकती रहतीं, अपने मनको

खींचकर वे किसी भी तरह प्रथम-पाठ्य लैटिन व्याकरणमें नहीं बिठा पाते थे। भावके भारसे और लिखनेके दायित्वसे दबे हुए इस अनदान-क्लिष्ट आदमीको देखकर मेरे मनमें बड़ी वेदना होती। हालाँ कि मैं अच्छी तरह समझ गया था कि इनसे मेरी लैटिनकी पढ़ाईमें कुछ भी मदद नहीं मिलनेकी, फिर भी उन्हें विदा देनेको किसी भी तरह मन राजी नहीं होता था। जितने दिन मैं उस मकानमें रहा, इसी तरह लैटिन पढ़ाईका बहाना करके दिन काटता रहा। विदा लेते समय जब मैं उनका वेतन देने लगा तो उन्होंने करुणस्वरमें मुझसे कहा, "मैंने तो सिर्फ समय नष्ट किया है, मैंने तो कोई काम नहीं किया, मैं तुमसे वेतन न ले सकूंगा।" मैंने उन्हें बड़ी मुश्किलोंसे वेतन लेनेको राजी किया था। मेरे उन लैटिन-शिक्षक ने यद्यपि कभी भी अपने मतको मेरे समक्ष प्रमाण-सहित उपस्थित नहीं किया, किन्तु फिर भी उनकी उस बातपर आज भी मैं अविश्वास नहीं करता। अब भी मेरा यह विश्वास है कि संसारके समस्त मनुष्योंके मनके साथ मनका एक अखंड और गभीर योग है, उसमें कहीं भी एक जगह शक्तिकी जो क्रिया होती है वह अन्यत्र गूढ़भावसे संक्रामित हुआ करती है।

इसके बाद, पालित महाशय मुझे वहाँसे बर्कर नामक एक शिक्षकके घर ले गये। वे अपने घरपर विद्यार्थियोंको परीक्षाके लिए तैयार कर दिया करते थे। उनके घरमें मात्र एक उनकी भोली-भाली सरलहृदया स्त्रीके सिवा और कुछ भी रम्य वस्तु नहीं थी। ऐसे शिक्षकोंको छात्र कैसे मिल जाते हैं, मेरी समझमें नहीं आता। कारण छात्र बेचारोंको अपनी पसन्दके प्रयोग करनेका वहाँ कोई मौका ही नहीं मिलता। किन्तु ऐसे आदमीको स्त्री कैसे मिल जाती है, जब यह सोचता हूं तो मन व्यथित हो उठता है। बर्करकी स्त्रीके लिए सान्त्वनाका आधार था एक कुत्ता। किन्तु स्त्रीको बर्कर जब दण्ड देना चाहते तो पीडा देते थे उस कुत्ते को। इस तरह उस कुत्तेको अवलम्बन बनाकर श्रीमती बर्करने अपनी वेदनाके क्षेत्रको और भी कुछ बढ़ा लिया था।

इसी समय डेवनशियरके टोर्की नगरसे (Torquay) भाभी-रानीका बुलावा आया तो मैं बड़े आनन्दसे भागा उनके पास। वहाँ पहाड़ोंपर, समुद्र-किनारे, फूलोंसे शोभित बाग-बगीचों और मैदानोंमें, पाइन-वृक्षोंकी छाया-तले, अपने दो

लीला-चंचल शिशु-भागियोंके साथ मैंने सुखसे दिन बिताये थे, वह नहीं सकता। 'दोनों ओरें जब कि सुख है, मन जब कि आनन्दसे अभिषिक्त है और अवकाशसे भरे दिन जब कि निष्कण्टक सुखरा बोझ लिये अनन्तका निस्तब्ध नीलाकाश-समुद्र पार कर रहे हैं, तब मनमें क्यों नहीं कविता लिखनेकी प्रेरणा उठती'— यह सोचकर किसी-किसी दिन मनको बड़ी ठेस पहुंचती। इसीसे, एक दिन कागज-कलम लेकर सरपर छतरी ताने कविता कर्तव्य पालनके लिए नील-सागरके पार्वत्य-तटपर पहुंचा। स्थान बहुत ही सुन्दर चुना था; कारण न तो वहां छन्द था और न भाव। एक समुच्च शिलातट चिर-व्यग्रताकी तरह समुद्रकी ओर शून्यमें झुका हुआ है, सामने फेन-रेखांकित तरल नीलिमाके हिंडोलेपर झूलता-हुआ दिनका आकाश चेहरेपर तरंगोंके मन्द्रगानकी हँसी लिये सो रहा है, और पीछे कतारोंमें खड़े-हुए पाइन-वृक्षोंकी सुगन्धमय छाया वनलक्ष्मीके आलस्य-स्खलित अंचलकी तरह फैली पड़ी है। उस शिलासनपर बैठकर मैंने एक कविता लिखी थी, 'मग्न तरी'। उस दिन वहीं समुद्रके पानीमें अगर उसे मग्न कर आता तो आज शायद बैठा-बैठा सोच सकता था कि चीज बड़ी अच्छी बन पड़ी थी। किन्तु वह रास्ता ही बन्द हो गया। कारण दुर्भाग्यसे अब भी वह साक्षी देनेके लिए सशरीर मौजूद है। ग्रन्थावलीमें यद्यपि उसे निर्वासन-दण्ड मिल चुका है, किन्तु सफीना जारी करनेसे उसका पता लगाना दुःसाध्य न होगा।

किन्तु कर्तव्यका पियादा निश्चिन्त नहीं बैठा था। फिर ताकीद आई, और फिर लौट जाना पड़ा लन्दन। अबकी बार डाक्टर स्कॉट नामक एक भद्र गृहस्थके घर मुझे आश्रय मिला। एक दिन शामके वक्त बोरिया-बसना लेकर मैं उनके घर जा उपस्थित हुआ। घरमें पक्व-केश डाक्टर, उनकी गृहिणी और बड़ी लड़की थीं। दो छोटी लड़कियां भारतीय अतिथिकी आगमन-आशंकासे अभिभूत होकर अपने किसी रिश्तेदारके घर भाग गई थीं। और, वे शायद तभी घर लौटीं जब उन्हें सवाद मिल गया कि मेरे द्वारा किसी भारी खतरेकी जल्दी कोई सम्भावना नहीं।

थोड़े ही दिनोंमें मैं इनके घरका-सा हो गया। श्रीमती स्कॉट मुझे अपने लड़केकी तरह स्नेह करने लगीं और उनकी लड़कियां ऐसे सच्चे मनसे आदर-जतन करने लगीं कि कोई आत्मीय क्या करेगा।

इस परिवारमें रहकर एक चीज मैंने देखी, यह कि मनुष्यकी प्रकृति सर्वत्र ही एकसी है। हम कहा करते हैं और मेरी भी ऐसी धारणा थी कि हमारे देशमें पति-भक्तिकी एक विशिष्टता है, जो योरोपमें नहीं है। किन्तु हमारे देशकी साध्वी गृहिणी और श्रीमती स्कॉटमें मुझे तो विशेष कोई पार्थक्य दिखाई नहीं दिया। पतिकी सेवामें उनका सम्पूर्ण मन नियोजित था। मध्य-वित्त गृहस्थका घर था, नौकर-चाकरोंका उपद्रव नहीं, प्रायः सब काम अपने हाथसे करना पड़ता था; इसलिए पतिका छोटेसे छोटा काम भी वे खुद अपने हाथसे करती थी। शामको पतिके (कामसे) घर लौटनेके पहले ही पतिकी आरामकुर्सी और ऊनी जूते वे अपने हाथसे आगके पास जचाकर रख देती। डाक्टर स्कॉटको क्या अच्छा लगता है और क्या नहीं, कैसा व्यवहार उन्हें प्रिय है और कैसा नहीं — ये सब बातें वे एक क्षणके लिए भी नहीं भूलती थी। सवेरे मात्र एक दासीको साथ लेकर नीचेसे लेकर ऊपर तक, सीढी और दरवाजेमें लगे पीतलके हथेले तक, सारा मकान अपने हाथसे साफ करके चमका देती। इसके बाद लोकाचारके नाना कर्तव्य तो थे ही। घर गृहस्थीका सारा काम कर चुकनेके बाद शामको वे हमारे पढने-लिखने और गाने-बजानेमें शरीक होती, — अवकाशके समय आमोद-प्रमोदको जमा देना भी तो आखिर गृहिणीके कर्तव्यका ही अंग ठहरा।

किसी-किसी दिन शामको लडकियोंके साथ टेबिल चलानेका खेल होता। हम सब मिलकर एक तिपाईपर हाथ लगाते और तिपाई कमरे-भरमें उन्मत्तकी तरह घूमती-फिरती। क्रमशः ऐसा हो गया कि हमलोग जिस चीजमें हाथ लगाते वही हिलने लगती। श्रीमती स्कॉटको यह खेल बहुत अच्छा लगता हो सो बात नहीं। वे कभी-कभी मुह गम्भीर करके सिर हिलाती हुई कह देती, "मेरी समझमें यह ठीक नहीं हो रहा है।" किन्तु फिर भी वे हमारे इस लड़कपनके अनाचारको जबरदस्ती रोकनेकी कोशिश न करके उसे सह लेती। एक दिन डाक्टर साहबकी टोपीपर हाथ रखकर जब उसे चलाने लगा तो वे व्याकुल होकर दौड़ी आई और बोली, "न न न, इस टोपीको नहीं चला सकते।" पतिके माथेकी टोपीपर एक क्षणके लिए भी शैतानका हाथ पडे, यह उनसे नहीं सहा गया।

इन सब बातोंमें एक चीज मैं बराबर देखा करता, वह थी स्वामीके प्रति उनकी

भक्ति। उनकी उस आत्म-विसर्जनोन्मुख मधुर नम्रताका स्मरण करके मैं समझ सकता हूँ कि स्त्रियोंके प्रेमकी स्वाभाविक चरम परिणति है भक्ति। जहाँ उनका प्रेम अपने विकासमें किसी तरहकी बाधा नहीं पाता वहाँ वह स्वतः ही पूजा तक पहुँच जाता है। और जहाँ भोग-विलासकी सामग्री और आयोजन बहुत ज्यादा हैं, जहाँ आमोद-प्रमोद ही दिन और रातोंको गँदला किये रहते हैं, वहाँ उस प्रेमकी परिणति विकृत हो जाती है; फिर वहाँ स्त्री-प्रकृतिको अपना पूर्ण आनन्द नहीं मिलता।

यहाँ कई महीने बीत गये। मझले भाई साहबका देश लौटनेका समय आ गया। पिताजीने लिखा कि मुझे भी उनके साथ लौटना है। इस प्रस्तावसे मुझे बड़ी खुशी हुई। देशका आकाश और प्रकाश मुझे भीतर-ही-भीतर पुकार रहा था। विदा करते समय श्रीमती स्कॉट मेरे दोनों हाथ पकड़कर रो दीं, बोलीं, "इस तरह चले ही जाना था तो तुम इतने कम दिनोंके लिए आये ही क्यों थे।" लन्दनमें वह घर अब नहीं रहा, और, उस परिवारके कोई परलोक सिधार गये होंगे और कोई कहाँके कहाँ चले गये होंगे, मुझे कुछ पता नहीं, किन्तु वह घर मेरे मनमें चिर-प्रतिष्ठित हुआ विराज रहा है।

एक बार जाड़ेके दिनोंमें टनब्रिज-वेल्स शहर (केण्ट) के रास्तेसे जाते समय मैंने देखा कि एक आदमी रास्तेके किनारे खड़ा है, उसके जूतोंमेंसे उंगलियाँ दीख रही हैं, पैरोंमें मोजे नहीं, छातीका भी कुछ हिस्सा खुला हुआ है। भीख माँगना निषिद्ध होनेसे वह मुँहसे कुछ कह नहीं सका, सिर्फ मेरे चेहरेकी तरफ देखता रहा। मैंने उसे जो सिक्का दिया वह उसके लिए आशातीत था। कुछ दूर जाते ही वह मेरे पास दौड़ा आया, बोला, "महाशय, आपने मुझे गलतीसे सोनेका सिक्का दे दिया है।" कहते हुए उसने सिक्का वापस करना चाहा। यह घटना शायद मुझे याद न रहती, किन्तु ऐसी ही एक और घटना हुई थी, इसलिए याद है। शायद टॉर्की स्टेशनकी बात है, एक कुलीने मेरा सामान रेलसे उतारकर गाड़ीपर चढ़ाया तो जेबमें पेनी जैसी कोई रेजगारी न पाकर मैंने उसे एक हाफ-क्राउन दे दिया। थोड़ी देर बाद देखा गया कि वह गाड़ीके पीछे-पीछे दौड़ा आ रहा है और गाड़ीवानसे रुकनेके लिए आवाज दे रहा है। मैंने समझा कि मुझे बेवकूफ परदेसी समझकर

और भी कुछ ऐंठना चाहता हूँ; किन्तु गाड़ी रुकनेपर उसने पास आकर कहा, "आपने शायद पेनी समझकर मुझे हाफ-क्राउन दे दिया है।"

जब तक मैं लन्दनमें था, किसीने मुझे ठगा ही नहीं— ऐसा मैं नहीं कह सकता। किन्तु यह कोई याद रखने लायक बात नहीं; और उसे बड़ा बनाकर देखना अन्याय भी है। मेरे मनमें इस बातका गहरा प्रभाव पड़ा कि जो अपने विश्वासको नष्ट नहीं करते, वे ही औरोंका विश्वास करते हैं। हमलोग वहाँ अपरिचित विदेशी ठहरे, चाहे जब धोखा देकर भाग आ सकते हैं, फिर भी वहाँके बाजार और दूकानोंमें कभी भी हमपर सन्देह नहीं किया गया।

जितने दिन विलायत था, शुरूसे अन्त तक एक प्रहसन मेरे प्रवास-वासके साथ लिप्त रहा। भारतके एक उच्च अंग्रेज कर्मचारीकी विधवा पत्नीके साथ मेरा परिचय हुआ था। वे स्नेहसे मुझे 'रुबि' कहा करती थीं। उनके पतिकी मृत्युके उपलक्ष्यमें उनके किसी भारतीय मित्रने अंग्रेजीमें एक विलाप-गीत लिख भेजा था। उसकी कवित्व-शक्ति और भाषा-नैपुण्यके विषयमें मैं ज्यादा कुछ नहीं कहना चाहता। मेरे दुर्भाग्यसे उसमें ऐसा उल्लेख था कि उसे विहाग-रागमें गाना होगा। एक दिन उक्त विधवाने मुझे धर घेरा, बोलीं, "यह गीत तुम विहाग रागमें गाकर मुझे सुनाओ।" मैंने अत्यन्त भले आदमीकी तरह उनकी बात रख दी। उस अद्भुत कविताके साथ विहाग सुरका सम्मिलन कैसा हास्यकर हुआ था, मेरे सिवा समझनेवाला और कोई वहाँ उपस्थित नहीं था। विधवा महिला भारतीय सुरमें अपने पतिकी शोक-गाथा सुनकर बहुत खुश हुईं। मैंने सोचा, चलो, आफत टली। किन्तु कहाँ, उसने तो अन्त तक पिण्ड नहीं छोड़ा।

उक्त विधवा रमणीके साथ अकसर किसी-न-किसी निमंत्रण-सभामें भेंट हो जाती। खाने-पीनेके बाद जब बैठकमें निमंत्रित स्त्री-पुरुष सब एकत्रित होते तो वे मुझे विहाग गानेके लिए अनुरोध करतीं। और-सब लोग सोचते कि भारतीय संगीतका शायद कोई आश्चर्यजनक नमूना सुननेको मिलेगा, इसलिए वे भी सब मिलके सानुनय अनुरोधमें शामिल हो जाते, और तब महिलाकी जेबमेंसे छपा-हुआ कागज निकल आता, और मेरे कर्णमूल सुर्ख हो जाते। सिर झुकाये लज्जित कण्ठसे गाना शुरू करता। और साफ समझ जाता कि इस शोक-गाथाका फल एक

मेरे सिवा और किसीके लिए भी शोचनीय नहीं हो रहा। गाना खतम होनेके बाद दर्या-हुई ऐंगिलोसे सुनाई देता, "Thank you very much. How interesting!" सुनकर उस जाड़ेमें भी मुझे पसीना आने लगता। किसी धारीक आदमीकी मृत्यु मेरे लिए इतनी बड़ी एक दुर्घटना साबित होगी, यह मेरे जन्मकालमें या उनके मृत्युकालमें भला कौन जान सकता था!

इसके बाद मैंने जब डाक्टर स्कॉटके घर रहकर लन्दन-युनिवर्सिटीमें पढ़ना शुरू किया था, तब कुछ दिनों तक उक्त महिलासे भेंट नहीं हुई। लन्दनसे बाहर कुछ दूर उनका घर था। वहाँ आनेके लिए वे मुझे प्रायः अनुरोध-पूर्ण पत्र दिया करतीं। मैं शोक-गाथाके डरसे किसी भी तरह राजी नहीं होता। अन्तमें एक दिन उनका अनुनय-पूर्ण तार मिला। जब तार मिला तब मैं कालेज जा रहा था। इधर कलकत्ता लौटनेका भी समय आ रहा था। सोचा, अब तो चला ही जाऊंगा, उसके पहले एक बार विधवाका अनुरोध पालन कर देना अच्छा है।

कालेजसे घर न लौटकर मैं सीधा स्टेशन चल दिया। उस दिन प्रकृतिमें दुर्योग आ गया था। काफी जाड़ा था, बरफ पड़ रही थी, कुहरासे आकाश आच्छन्न हो रहा था। जहाँ जाना था वही उस लाइनका अन्तिम स्टेशन था, इसलिए गाड़ीमें निश्चिन्त होकर बैठ गया। कब गाड़ीसे उतरना है इस बातका पता लगाना जरूरी नहीं समझा। देखा कि स्टेशन दाहनी तरफ पड़ रहे हैं, इसलिए दाहनी तरफकी खिड़कीके पास बैठकर गाड़ीके क्षीण प्रकाशमें किताब पढ़ने लगा। बदलीका दिन जल्दी छिप जानेसे अँधेरा हो गया था, बाहरका कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। लन्दनसे थोड़ेसे यात्री चढ़े थे और वे अपने-अपने गन्तव्य स्थानमें एक-एक करके उतर गये। गन्तव्य स्टेशनके पहलेके स्टेशनसे गाड़ी छूट गई। आगे चलकर एक जगह गाडी कुछ देरके लिए खड़ी हुई। खिड़कीसे मुंह निकालकर देखा, तो अँधेरा ही अँधेरा। न कोई आदमी है, न प्लाटफार्म, न और-कुछ। जो लोग भीतर रहते हैं वे ही वास्तव तत्त्वकी जानकारीसे वंचित रहते हैं, — रेलगाड़ी क्यों अस्थानमें असमयमें ठहरकर खड़ी रहती है, रेलके यात्रियोंके लिए इसके समझनेका कोई उपाय नहीं, लिहाजा फिर मैंने पढ़नेमें मन लगा दिया। कुछ देर बाद गाड़ी पीछेकी तरफ चलने लगी; और मैंने मनमें सोचा कि रेलगाड़ीका चरित्र समझनेकी कोशिश

करना व्यर्थ है। किन्तु बादमें देखा कि जिस स्टेशनको कुछ देर पहले पार कर गया था उसी स्टेशनपर गाड़ी फिर आ खड़ी हुई। तब फिर मेरे लिए तटस्थ रहना मुश्किल हो गया। स्टेशनके आदमीसे पूछा, 'अमुक स्टेशन कब आयेगा?' उसने कहा, 'वहीसे तो गाड़ी चली आ रही है।' व्याकुल होकर मैंने फिर पूछा, 'अब कहाँ जायगी?' उसने जवाब दिया, 'लन्दन।' समझ गया कि यह गाड़ी पार उतारनेवाली नाव है, इस पारसे उस पार और उस पारसे इस पार। घबराकर झटसे वहीं उतर पड़ा। पूछा, 'उत्तरकी गाड़ी अब कब मिलेगी?' जवाब मिला, 'आज रातको तो अब नहीं मिलनेकी।' पूछा, 'आसपास कहीं सराय है?' उसने कहा, 'पाँच माइलके इर्द-गिर्द तो कही नही।'

सवेरे दस बजे खाकर घरसे निकला था, इस बीचमें पानी तक नही पीया। किन्तु वैराग्यके सिवा जब कि और कोई चारा ही नहीं तो निवृत्ति ही सबसे सीधा मार्ग है। मोटे ओवरकोटके गले तक बटन कसकर स्टेशनके दीपस्तम्भके नीचे बेञ्चपर बैठकर किताब पढ़ने लगा। किताब थी हर्बर्ट स्पेन्सरकी 'Data of Ethics'—हाल ही में निकली थी। जब कि और कोई चारा नहीं तब मनको यह समझाकर कि इस तरहकी पुस्तक ध्यानसे पढ़नेका ऐसा परिपूर्ण अवकाश फिर कभी नहीं मिलेगा, पढ़नेमें मग्न हो गया। कुछ देर बाद पोर्टरने आकर कहा, 'आज एक स्पेशल छूटी है, आध घंटेके अन्दर आ जायगी।' सुनकर मनमें स्फूर्तिका ऐसा संचार हुआ कि फिर Data of Ethics में मन लगना मेरे लिए दुश्वार हो गया।

सात बजे जहाँ पहुचनेकी बात थी वहाँ पहुंचनेमें साढ़े-नौ बज गये। गृह-कर्त्रीने कहा, "यह क्या रवि, बात क्या है!" अपने आश्चर्यजनक भ्रमण-वृत्तान्तका वर्णन मैं खूब गर्वके साथ कह सका होऊं, ऐसा नही कहा जा सकता।

वहाँके निमंत्रितोंकी डिनर तब खतम हो चुकी थी। मनमें धारणा थी कि मेरा अपराध जब कि इच्छाकृत नही तो कठोर दण्ड नहीं भोगना पड़ेगा, खासकर रमणी जहाँ विधान-कर्त्री हों। किन्तु उच्चपदस्थ भारत-कर्मचारीकी विधवा स्त्रीने मुझसे कहा, "आओ रवि, एक प्याला चाय पी लो।"

मैं तब चाय नहीं पीता था, किन्तु यह समझकर कि जठरानल बुझानेके लिए

चायका प्याला कुछ सहायता कर सकता है, गोल-गोल दो बिस्कुटके साथ मैं किसी कदर उस बड़ी थापको निगल गया। बैठकमें जाकर देखा कि अनेक प्राचीना नारियोंका समागम हुआ है। उनमें एक सुन्दरी युवती थी। वे अमेरिकन थी और गृह-स्वामिनीके युवक भानुपुत्रके साथ विवाहके पूर्वरागका उद्यापन कर रही थीं। परन्तु गृहिणीने कहा, "तो अब नाच शुरू किया जाय।" मुझे नृत्यकी कोई जरूरत नहीं थी, और शरीर-मनकी स्थिति भी नृत्यके अनुकूल नहीं थी। किन्तु जो बहुत ज्यादा भले-मानस होते हैं संसारमें वे असाध्यको भी साध्य कर डालते हैं। इसी कारण, हालाँ कि यह नृत्य-सभा उन युवक-युवतीके लिए ही आहूत हुई थी, फिर भी, दस घंटेके उपासके बाद दो बिस्कुट खाकर त्रिकालोत्तीर्ण प्राचीन रमणियोंके साथ मुझे नृत्य करना ही पड़ा। यहीं दुःखका अन्त हुआ हो सो बात नहीं। निमन्त्रणदात्रीने मुझसे पूछा, "रवि, आज तुम रात कहाँ बिताओगे?" इस तरहके प्रश्नके लिए मैं कतई तैयार न था। मैं हतबुद्धि-सा होकर जब उनके मुंहकी ओर ताकने लगा तो उन्होंने कहा, "रातके बारह बजे यहाँकी सराय बन्द हो जाती है, इसलिए अब देर न करके तुम्हें वहीं चला जाना चाहिए।" सौजन्यका बिलकुल ही अभाव हो सो बात नहीं; सराय मुझे खुद नहीं ढूंढनी पड़ी। लालटेन लेकर एक नौकर मुझे सराय तक पहुंचा आया।

मैंने सोचा, शाप शायद वर बन जायगा, शायद सरायमें खानेका कुछ इन्तजाम होगा। मैंने सरायवालोंसे पूछा, "आमिष हो या निरामिष, ताजा हो या बासा, खानेको कुछ मिलेगा क्या?" उन लोगोंने कहा, "शराब जितनी चाहो मिल सकती है, खाना नहीं है।" तब सोचने लगा, निद्रादेवीका हृदय कोमल है, वे आहार भले ही न दें, पर विस्मृति जरूर देंगी। किन्तु अपनी जगत्व्यापी गोदमें भी उन्होंने उस रातको मुझे स्थान नहीं दिया। जिस कोठरीमें स्थान मिला उसका पत्थरका फर्श ठंडा बरफ-सा हो रहा था; असबाबमें एक पुरानी खाट थी और एक टूटी-सी मुंह धोनेकी टेबिल।

सवेरेके वक्त मेरी मेजबान इङ्ग-भारती विधवाने मुझे कलेवाके लिए बुला भेजा। अंग्रेजी दस्तूरके माफिक जिसे ठंडा खाना कहा जाता है, उसीका आयोजन था। अर्थात्, गत रात्रिके भोजका बचा-खुचा आज ठंडी हालतमें लाया गया।

इसीका किंचिन्मात्र अंश यदि उष्ण अथवा कवोष्ण दशामें कल मिल जाता तो संसार में किसीकी भी कोई भारी हानि नहीं होती; और मेरा नृत्य भी पानीसे बाहर पड़ी मछलीके नृत्यकी तरह उतना शोकावह न होता।

कलेवा हो चुकनेके बाद घर-मालिकिनने कहा, "जिन्हें गीत सुनानेके लिए तुम्हें बुलाया था वे बीमार हैं; उनके कमरेके बाहर खड़े होकर तुम्हें गाना होगा।" मुझे सीढ़ीपर खड़ा कर दिया। बन्द दरवाजेकी तरफ इशारा करके गृहिणीने कहा, "इसी कमरेमें हैं वे।" मैंने उस अदृश्य रहस्यकी ओर मुंह करके खड़े-खड़े विहाग रागमें शोकका गान गाया; उसके बाद उस रोगिणीका क्या हुआ, उसका संवाद आज तक न तो किसीके मुहसे सुना और न समाचारपत्रमें ही पढ़नेमें आया।

लन्दन लौटकर दो-तीन दिन तक बिस्तरपर पड़ा-पड़ा अपनी निरंकुश भल-मनसीका प्रायश्चित्त करता रहा। डाक्टरकी लड़कियोंने कहा, "दुहाई है तुम्हें, इस निमंत्रणकाण्डको तुम हमारे देशके आतिथ्यका नमूना न समझ बैठना। यह तुम्हारे भारतवर्षके ही नमकको करामात है!"

लोकेन पालित

विलायतमें जब मैं युनिवर्सिटी कालेजमें अंग्रेजी-साहित्य-कक्षामें पढ़ता था तब वहां लोकेन पालित[1] था मेरा सहपाठी मित्र। उमरमें वह मुझसे करीब चार साल छोटा था। जिस उमरमें मैं 'जीवन-स्मृति' लिख रहा हूं उस उमरमें चार सालका तारतम्य ऐसा नहीं कि उसपर नजर पड़े, किन्तु सत्रह सालके साथ तेरह सालका फर्क इतना ज्यादा है कि उसे लांघकर मित्रता करना कठिन है। उमरका कोई गौरव न होनेसे ही उमरके विषयमें बालक अपनी मर्यादा बचाकर चलना चाहते हैं। किन्तु इस बालकके सम्बन्धमें उस बाधाको मेरे मनने बिलकुल ही नहीं माना। इसका एकमात्र कारण यह था कि बुद्धि-शक्तिमें मैं लोकेनको अपनेसे जरा भी छोटा नहीं समझ सकता था।

युनिवर्सिटी कालेजके पुस्तकालयमें छात्र और छात्राएं बैठकर पढ़ा करती हैं, और हम दोनोंका वहीं गपशप करनेका अड्डा था। यह काम चुपचाप कर लेनेसे

१ सर तारकनाथ पालितके पुत्र लोकेन्द्रनाथ पालित।

किसीको कोई आपत्ति नहीं होती,— किन्तु हँसीकी जबरदस्त भापसे मेरे मित्रका तरुण मन हमेशा ही इतना परिस्फीत रहता कि जरा-सा धक्का पाते ही वह धड़ाकेके साथ उच्छ्वसित हो उठता। प्रायः सभी देशोंकी छात्राओंकी पठन-निष्ठामें अनुचित परिमाणमें अतिशयता देखनेमें आती है। न-जाने हमारी कितनी पठन-रता प्रति-वेशिनी छात्राओंने अपने नीले नयनोंसे कितने नीरव भर्त्सना-कटाक्ष हमारे स-रव हास्यालापपर निष्फल बरसाये होंगे, आज उनकी याद आती है तो सचमुच ही मनमें अनुतापका उदय होता है। किन्तु उन दिनों पाठाभ्यासकी व्याघात-पीड़ाके सम्बन्धमें मेरे चित्तमें सहानुभूतिका लेशमात्र भी नहीं था। इसके लिए किसी दिन भी मेरे सिर-दर्द नहीं हुआ और विधाताके प्रसादसे विद्यालयकी पढ़ाईके विघ्नने मुझे जरा भी कष्ट नहीं दिया।

इस पाठागारमें हमलोगोंका निरवच्छिन्न हास्यालाप ही चलता रहता हो, सो बात नहीं ; साहित्य-आलोचना भी हुआ करती थी। उस आलोचनामें अपने बालक मित्रको मैं अर्वाचीन नहीं समझ सकता था। यद्यपि बंगला पुस्तकें उसने मुझसे बहुत कम पढ़ी थीं, किन्तु विचार-शक्तिमें अपनी उस कमीकी वह अनायास ही पूर्ति कर लेता था। हमारी बातचीतके सिलसिलेमें बंगला शब्द-तत्त्वकी आलोचना भी एक बार हुई थी। उसकी उत्पत्तिका कारण बताता हूं। डाक्टर स्कॉटकी कन्याने मुझसे बंगला सीखनेके लिए अपना उत्साह प्रकट किया था। उन्हें बंगला वर्णमाला सिखाते समय मैंने गर्वके साथ कहा था कि हमारी भाषामें उच्चारण-सम्बन्धी एक धर्मज्ञान मौजूद है, कदम-कदमपर नियम लंघन करना ही उसका नियम नहीं। साथ ही उन्हें यह भी जता दिया था कि अंग्रेजीकी अक्षर-विन्यास-पद्धतिका असंयम एक भारी मजाक है और सिर्फ रटके परीक्षा देनी पड़ती है इसलिए शोकजनक भी है। पर मेरा गर्व टिका नहीं। देखा कि बंगलाके हिज्जे भी बन्धनको नहीं मानते।[१] अब तक अभ्यासवश इस बातपर मेरा लक्ष्य ही

[१] बंगलामें पहले तो ह्रस्व और दीर्घके उच्चारणमें कोई भेद नहीं। दूसरे, वर्णोंका उच्चारण 'ओ' 'कों'के समान किया जाता है। तीसरे, 'ण' और 'न', 'व' और 'ब', 'ज' और 'य'का उच्चारण एकसा होता है। चौथे, 'ष' और 'स' का उच्चारण 'श'के समान, 'क्ष'का उच्चारण 'क्ख'के समान और 'व्य' का (यफला-युक्त सभी शब्दोंका) 'बॅ' या 'ब्ब' जैसा होता है। — अनुवादक

नही गया था कि बंगलाका उच्चारण भी वर्णविन्यासके नियमोंको लाँघकर चलता है। और तब, मैं इस नियम-व्यतिक्रमका कोई नियम ढूंढनेमें प्रवृत्त हुआ। युनिवर्सिटी कालेजकी लाइब्रेरीमें बैठकर यह काम करता था। लोकेन इस विषयमें मेरी जो सहायता करता था उससे मुझे आश्चर्य मालूम होता था।

उसके बाद कई साल बाद 'सिविल-सर्विस'में प्रवेश करके लोकेन जब भारत वापस आया तब वहाँ उस कालेज-लाइब्रेरीमें जो हास्योच्छ्वास-तरंगित आलोचना हुआ करती थी वही यहाँ क्रमशः प्रशस्त होकर प्रवाहित होने लगी। साहित्यमें लोकेनके प्रबल आनन्दने मेरी रचनाके वेगको पाल्की हवा बनकर आगे बढ़ाया है। अपने पूर्ण यौवनके दिनोंमें 'साधना'का सम्पादक होकर (सं०१९४९-५२) जब मैं अविश्राम गतिसे गद्य-पद्यकी जोड़ी-गाड़ी हाँकता जा रहा था तब लोकेनके जबरदस्त उत्साहने मेरे उद्यममें कहीं भी जरा थकान नहीं आने दी। उस समय 'पंचभूतकी डायरी'के कितने ही पन्ने और कितनी ही कविताएँ मैंने मुफस्सलमें उसके बगलेमें बैठकर लिखी हैं। हम दोनोकी काव्यालोचना और संगीतकी न-जाने कितनी सभाएँ कितने ही दिन संध्या-ताराके राज्यमें शुरू होकर शुक-ताराके राज्यमें, भोरकी हवामें रात्रिकी दीपशिखाके साथ-साथ समाप्त हुई होंगी, कौन कह सकता है। सरस्वतीके कमलवनमें बन्धुत्वके कमलपर ही देवीका विलास शायद सबसे अधिक होता है। उस वनमें स्वर्णरेणुका परिचय बहुत ज्यादा नहीं मिला, किन्तु प्रेमके सुगन्धि-मधुके सम्बन्धमें शिकायत करनेका कोई कारण नहीं।

भग्नहृदय

विलायतमें और-एक काव्यकी नींव पड चुकी थी। कुछ रास्तेमें और कुछ देश आकर उसे पूरा किया था। 'भग्नहृदय'के नामसे वह प्रकाशित (जून १८८१) हुआ था; और तब ऐसा लगा था कि 'बड़ा अच्छा लिखा गया है'। लेखकके लिए ऐसा लगना कोई असाधारण बात नहीं। किन्तु उस समयके पाठक-समाजमें भी उसका सम्पूर्ण अनादर नहीं हुआ। मुझे याद है, उसके ('भारती'में) प्रकाशित होनेके कुछ दिन बाद त्रिपुराके स्वर्गीय महाराज वीरचन्द्रमाणिक्यके मंत्री कलकत्तेमें

मुझसे मिलने आये थे और महाराजने उन्हें केवल इसलिए कलकत्ता भेजा था कि वे उनकी तरफसे मुझे कहें कि 'भग्नहृदय' काव्य महाराजको अच्छा लगा है, और वे कविकी साहित्य-साधनाके भविष्यके विषयमें उच्च आशा रखते हैं।

मैंने अपनी उस अठारह सालकी उमरकी कविताके सम्बन्धमें तीस सालकी उमरमें एक पत्रमें क्या लिखा था सो यहाँ उद्धृत कर देना चाहता हूँ—"भग्नहृदय" जब लिखना शुरू किया था तब मेरी उमर थी अठारह सालकी। न तो बचपन था और न यौवन। उमर ऐसे एक सन्धिस्थलमें थी जहाँसे सत्यका स्पष्ट प्रकाश पानेकी सुविधा नहीं। कुछ-कुछ आभास और कुछ-कुछ छाया प्राप्त होनेकी उमर थी यह। उस समयकी कल्पना सन्ध्याकालकी छायाकी तरह अत्यन्त दीर्घ और अपरिस्फुट हुआ करती है। और उस हालतमें सचमुचकी दुनिया एक अजीब दुनिया हो उठती है। और-एक मजेकी बात यह है कि तब मेरी ही उमर अठारह हो सो बात नहीं, मेरे आस पासके सभीकी उमर मानो अठारह सालकी थी। हम सभी मिलकर एक वस्तुहीन भित्तिहीन कल्पनालोकमें वास करते थे। उस कल्पना-लोकका अत्यन्त तीव्र सुख-दुःख भी स्वप्नके सुख-दुःखके समान था। अर्थात्, उसके परिमाणको तौलनेके लिए कोई सच्चा पदार्थ नहीं था, सिर्फ अपना मन ही था; और इसीलिए अपने मनमें तिलका ताड़ हो उठता था।"

मेरे जीवनमें पन्द्रह-सोलहसे लेकर बाईस-तेईस वर्षकी उमर तकका जो समय था वह असलमें एक अत्यन्त अव्यवस्थाका काल था। जिस युगमें पृथिवीके जल-स्थलका अच्छी तरह विभाजन नहीं हुआ उस युगके उस प्रथम पङ्क-स्तरपर विशाल-काय और विचित्राकार उभयचर जन्तु आदिकालके शाखा-सम्पद्हीन अरण्यमें सञ्चरण करते फिरते थे। ठीक इसी तरह अपरिणत मनके सान्ध्य-प्रकाशमें आवेग परिमाण-बहिर्भूत अद्भुत मूर्ति धारण करके किसी नामहीन पथहीन अन्तहीन अरण्यकी छायामें घूमा करते थे। तब न तो वे अपनेको जानते थे और न अपने बाहरके लक्ष्यको। और, चूंकि वे अपनेको नहीं जानते इसलिए पद-पदपर अन्य किसी चीजकी नकल करते रहते हैं। असलमें असत्य सत्यकी कमीको असंयमके द्वारा दूर करनेकी कोशिश किया करता है। मेरे जीवनकी ऐसी अकृतार्थ अवस्थामें जब अन्तर्निहित शक्तियाँ बाहर निकलनेके लिए धक्कम-धक्का कर रही थीं और

सत्न उनके लक्ष्य-गोचर और आयत्तगम्य नहीं हुआ था, तब अतिशयताके द्वारा ही वे अपनेको घोषित करनेकी चेष्टा कर रही थी। बच्चोंके दाँत जब निकलनेकी कोशिश करते हैं तब अनुद्गत दाँत शरीरमें ज्वरका दाह ले आते हैं। उस उत्तेजना की सार्थकता तब तक कुछ भी नहीं जब तक कि दाँत निकलकर बाहरके खाद्य पदार्थको अन्तरस्थ करनेमें सहायता नहीं करते। मनके आवेगोंकी ठीक वही दशा है। जब तक बाहरके साथ वे अपना सत्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं करते तब तक वे व्याधिकी तरह ही मनको पीड़ा देते रहते हैं।

उस समयकी अभिज्ञतासे मैंने जो शिक्षा ली है उसका सभी नीतिशास्त्रोंमें उल्लेख है,— किन्तु इसका मतलब यह नहीं कि वह अवज्ञाके योग्य हो। हमारी प्रवृत्तियोंको जो-भी-कुछ अपने अन्दर जकड़े-पकड़े रहता है, पूरी तरह बाहर नहीं निकलने देता, वही जीवनको विषाक्त कर डालता है। स्वार्थ हमारी प्रवृत्तियोंको शेष-परिणाम तक पहुंचने नहीं देता, उन्हें पूरी तौरसे छुटकारा नहीं देना चाहता, और इसीलिए सब तरहके आपात आतिशय्य और असत्य स्वार्थ-साधनके साथी होते हैं। मंगल-कर्मोंमें जब भी वे छुटकारा पाती हैं तभी उनका विकार जाता रहता है, और तभी वे स्वाभाविक हो उठती हैं। हमारी प्रवृत्तियोंका सच्चा परिणाम वही है, और आनन्दका मार्ग भी वही है।

अपने मनकी जिस अपरिणतिका उल्लेख मैंने यहाँ किया है उसमें तत्कालीन शिक्षा और दृष्टान्तोंने भी साथ दिया था। आज निश्चितरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि उस कालका वेग अब जाता रहा है। जिस समयकी बात कह रहा हूं उस समयकी ओर देखनेसे याद आता है कि अंग्रेजी साहित्यमें हमें जिस मिकदारमें मादक मिला था उस मिकदारमें खुराक नहीं मिली। उस जमानेमें हमारे साहित्य-देवता थे शेक्सपीयर, मिल्टन और बायरन। इनकी रचनाओंके भीतरकी जिस चीजने हमें खूब जोरोंसे हिला डाला था वह थी हृदयावेगकी प्रबलता। हृदयावेगकी यह प्रबलता अंग्रेजोंके लोक-व्यवहारमें दबी रहती है; किन्तु उनके साहित्यमें इसका आधिपत्य मानो उतना ही ज्यादा है जितना लोक-व्यवहारमें उसका दबा रहना। इस साहित्यका एक विशेष स्वभाव है 'हृदयावेगको अत्यधिक अतिशयता में ले जाकर उसे एक प्रचण्ड अग्निकाण्डमें खतम कर देना।' कमसे कम हमने

मुझसे मिलने आये थे और महाराजने उन्हें केवल इसलिए कलकत्ता भेजा था कि वे उनकी तरफसे मुझे कहें कि 'भग्नहृदय' काव्य महाराजको अच्छा लगा है, और वे कविकी साहित्य-साधनाके सफलताके विषयमें उच्च आशा रखते हैं।

मैंने अपनी उस अठारह सालकी उमरकी कविताके सम्बन्धमें तीस सालकी उमरमें एक पत्रमें क्या लिखा था सो यहां उद्धृत कर देना चाहता हूं—"'भग्नहृदय' जब लिखना शुरू किया था तब मेरी उमर थी अठारह सालकी। न तो बचपन था और न यौवन। उमर ऐसे एक सन्धिस्थलमें थी जहांसे सत्यका स्पष्ट प्रकाश पानेकी सुविधा नहीं। कुछ-कुछ आभास और कुछ-कुछ छाया प्राप्त होनेकी उमर थी वह। उस समयकी कल्पना सन्ध्याकालकी छायाकी तरह अत्यन्त दीर्घ और अपरिस्फुट हुआ करती है। और उस हालतमें सचमुचकी दुनिया एक अजीब दुनिया हो उठती है। और-एक मजेकी बात यह है कि तब मेरी ही उमर अठारह हो सो बात नहीं, मेरे आसपासके सभीकी उमर मानो अठारह सालकी थी। हम सभी मिलकर एक वस्तुहीन भित्तिहीन कल्पनालोकमें वास करते थे। उस कल्पनालोकका अत्यन्त तीव्र सुख-दुःख भी स्वप्नके सुख-दुःखके समान था। अर्थात्, उसके परिणामको तौलनेके लिए कोई सच्चा पदार्थ नहीं था, सिर्फ अपना मन ही था; और इसीलिए अपने मनमें तिलका ताड़ हो उठता था।"

मेरे जीवनमें पन्द्रह-सोलहसे लेकर बाईस-तेईस वर्षकी उमर तकका जो समय था वह असलमें एक अत्यन्त अव्यवस्थाका काल था। जिस युगमें पृथिवीके जल-स्थलका अच्छी तरह विभाजन नहीं हुआ उस युगके उस प्रथम पक-स्तरपर विशाल-काय और विचित्राकार उभयचर जन्तु आदिकालके शाखा-सम्पद्हीन अरण्यमें सचरण करते फिरते थे। ठीक इसी तरह अपरिणत मनके सान्ध्य-प्रकाशमें आवेग परिमाण-बहिर्भूत अद्भुत मूर्ति धारण करके किसी नामहीन पथहीन अन्तहीन अरण्य की छायामें घूमा करते थे। तब न तो वे अपनेको जानते थे और न अपने बाहरके लक्ष्यको। और, चूंकि वे अपनेको नहीं जानते इसलिए पद-पदपर अन्य किसी चीजकी नकल करते रहते हैं। असलमें असत्य सत्यकी कमीको असंयमके द्वारा दूर करनेकी कोशिश किया करता है। मेरे जीवनकी ऐसी अकृतार्थ अवस्थामें जब अन्तर्निहित शक्तियां बाहर निकलनेके लिए धक्कम-धक्का कर रही थीं और

थे। उनके काव्योंमें भी उसी हृदयावेगकी उद्दामताने हमारे यहाँके भलेमानस समाजके घूंघटवाले हृदयको, उस दुलहिनको, उतावला कर दिया था। इसीसे अंग्रेजी साहित्यालोचनाकी वह् चंचलता हमारे देशके शिक्षित युवकोंमें विशेष रूपसे प्रकट हुई थी। उस चंचलताकी लहरोंने बाल्यकालमें हमलोगोंपर भी चारो तरफसे आघात किया है। इसलिए, वे प्रथम जागरणके दिन संयमके दिन नहीं, असलमें वे उत्तेजनाके ही दिन थे।

और-फिर मजेकी बात यह कि युरोपकी और हमारी अवस्थामें बहुत बड़ा पार्थक्य था। युरोपीय चित्तका वह चांचल्य, नियम-बन्धनके विरुद्ध वह विद्रोह, वहाँके इतिहाससे ही वहाँके साहित्यमें प्रतिफलित हुआ था। उसके भीतर और बाहरमें एक तरहका मेल था। वहाँ सचमुच ही तूफान उठा था, इसीलिए उसका गर्जन सुनाई दिया था। हमारे समाजमें जो उसकी थोड़ी-सी हवा आकर लगी थी उसका सचमुचका सुर मर्मरध्वनिसे ऊपर नहीं चढा,– किन्तु उतनेसे ही तो हमारा मन तृप्त होना नही चाहता था, इसीलिए हमलोग तूफानके गर्जनकी नकल करनेमें अपने प्रति जबरदस्ती करके अतिशयोक्तिकी ओर बढ रहे थे। अभी भी हमारी वह झोंक मिट गई हो, ऐसा तो नही मालूम होता। सहजमें मिटनेकी भी नही। इसका प्रधान कारण यह कि अंग्रेजी साहित्यमें साहित्य-कलाका संयम अभी तक नही आ पाया। अब भी वहाँ ज्यादा बढ़ाकर कहने और तीव्र बनाकर प्रकट करनेका ढंग सर्वत्र मौजूद है। 'हृदयावेग साहित्यका एक उपकरण मात्र है, वह लक्ष्य हरगिज नहीं। साहित्यका लक्ष्य ही है परिपूर्णताका सौन्दर्य, अर्थात् संयम और सरलता'– यह बात अभी तक अंग्रेजी साहित्यमें सम्पूर्णरूपसे स्वीकृत नही हुई।

हमारा मन शिशुकालसे लेकर मृत्युकाल पर्यन्त केवल इस अंग्रेजी साहित्यके ढाँचेमें ही ढलता जा रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि युरोपकी जिन प्राचीन और आधुनिक साहित्य-रचनाओंमें साहित्य-कलाकी मर्यादा संयमकी साधनामें परिस्फुटित हो उठी है वे साहित्य-रचनाएँ हमारी शिक्षाका अंग नहीं, इसीलिए साहित्य-रचनाकी रीति और लक्ष्यको अभी तक हम अच्छी तरह समझ नही पा रहे हैं।

उस दुर्दमनीय उद्दीपनाको ही अंग्रेजी-साहित्यका सार समझकर ग्रहण किया था 'हमारे बाल्यकालके साहित्य-दीक्षादाता अक्षय चौधरी महाशय जब विभोर होकर अंग्रेजी काव्य सुनाया करते थे तब मैंने देखा है कि उसमें एक तीव्र नशेका भाव रहता था। क्या रोमिओ-जुलिएटके प्रेमोन्मादमें, क्या लियरके अक्षम परितापके विक्षोभमें, क्या ओयेलोके ईर्षानलके प्रलय-दावदाहमें, सबमें एक तरहकी प्रबल अतिशयता है। और वही उनके मनमें उत्तेजनाका संचार किया करती थी।

हमारा समाज और हमारे छोटे-छोटे कर्मक्षेत्र ऐसे एकमुखी बेड़ोंसे घिरे-हुए हैं कि वहां हृदयका तूफान प्रवेश ही नहीं कर सकता,— वहां सब-कुछ यथासम्भव ठंडा और चुपचाप है, इसीलिए अंग्रेजी-साहित्यके हृदयावेगके इस वेग और रुद्रता ने हमपर ऐसा एक हार्दिक आघात किया था कि जिसे हमारा हृदय स्वभावतः ही चाहता था। साहित्य-कलाका सौन्दर्य हमें जो सुख देता है यह वह सुख नहीं है, यह तो अत्यन्त स्थिरत्वमें मात्र एक बड़ा-सा आन्दोलन लानेका सुख है। इसमें 'अगर तलेका सारा कीचड़ ऊपर उठ आये तो यह भी मजूर' जैसा भाव है।

युरोपमें जब एक दिन मनुष्यकी हृदय-प्रवृत्तिको अत्यन्त संयत और पीड़ित करनेके दिन खतम होकर उसकी प्रबल प्रतिक्रियाके रूपमें रेनेसांस (नवजीवन) का युग आया था, शेक्सपीयरके सम-सामयिक कालको नाटय-साहित्य उन्हीं क्रान्तिके दिनोंकी ही नृत्यलीला है। उस साहित्यमें भलाई-बुराई और सुन्दर-असुन्दरका विचार मुख्य नहीं था,— उसमें तो मनुष्यने मानो अपनी हृदय-प्रकृतिको उसके अन्त:पुरकी समस्त बाधाओंसे मुक्त करके उसीकी उद्दाम शक्तिकी चरम मूर्ति देखना चाही थी। इसीसे उस साहित्यमें प्रकाशकी अत्यन्त तीव्रता प्राचुर्य और असंयम देखनेमें आता है। युरोपीय समाजके उस होलीके हुड़दंगके सुरने हमारे यहांके अत्यन्त शिष्ट-समाजमें प्रवेश करके अचानक हमें नींदसे जगाकर चंचल कर दिया था। हृदयको जहां, बराबर ही आचारके ढक्कनसे ढका रहनेसे, अपना पूर्ण परिचय देनेका मौका नहीं मिलता, वहाँ स्वाधीन और सजीव हृदयकी अबाध लीलाके दीपक-रागने हमें यकायक चौंकाकर दंग कर दिया था।

अंग्रेजी साहित्यमें, और एक दिन, जब 'पोप'-कालका धीमा-तिताला बन्द होकर फ्रान्सीसी-क्रान्ति-नृत्यका झपताल शुरू हुआ तब, बायरन उस समयके कवि

थे। उनके काव्योंमें भी उसी हृदयावेगकी उद्दामताने हमारे यहाँके भलेमानस समाजके घूंघटवाले हृदयको, उस दुलहिनको, उतावला कर दिया था। इसीसे अंग्रेजी साहित्यालोचनाकी वह चंचलता हमारे देशके शिक्षित युवकोंमें विशेष रूपसे प्रकट हुई थी। उस चंचलताकी लहरोंने बाल्यकालमें हमलोगोंपर भी चारों तरफसे आघात किया है। इसलिए, वे प्रथम जागरणके दिन संयमके दिन नहीं, असलमें वे उत्तेजनाके ही दिन थे।

और-फिर मजेकी बात यह कि युरोपकी और हमारी अवस्थामें बहुत बड़ा पार्थक्य था। युरोपीय चित्तका वह चांचल्य, नियम-बन्धनके विरुद्ध वह विद्रोह, वहाँके इतिहाससे ही वहाँके साहित्यमें प्रतिफलित हुआ था। उसके भीतर और बाहरमें एक तरहका मेल था। वहाँ सचमुच ही तूफान उठा था, इसीलिए उसका गर्जन सुनाई दिया था। हमारे समाजमें जो उसकी थोड़ी-सी हवा आकर लगी थी उसका सचमुचका सुर मर्मरध्वनिसे ऊपर नही चढा,— किन्तु उतनेसे ही तो हमारा मन तृप्त होना नही चाहता था, इसीलिए हमलोग तूफानके गर्जनकी नकल करनेमें अपने प्रति जबरदस्ती करके अतिशयोक्तिकी ओर बढ रहे थे। अभी भी हमारी वह झोक मिट गई हो, ऐसा तो नही मालूम होता। सहजमें मिटनेकी भी नहीं। इसका प्रधान कारण यह कि अंग्रेजी साहित्यमें साहित्य-कलाका संयम अभी तक नही आ पाया। अब भी वहाँ ज्यादा बढाकर कहने और तीव्र बनाकर प्रकट करनेका ढंग सर्वत्र मौजूद है। 'हृदयावेग साहित्यका एक उपकरण मात्र है, वह लक्ष्य हरगिज नहीं। साहित्यका लक्ष्य ही है परिपूर्णताका सौन्दर्य, अर्थात् संयम और सरलता'— यह बात अभी तक अंग्रेजी साहित्यमें सम्पूर्णरूपसे स्वीकृत नहीं हुई।

हमारा मन शिशुकालसे लेकर मृत्युकाल पर्यन्त केवल इस अंग्रेजी साहित्यके ढाँचेमें ही ढलता जा रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि युरोपकी जिन प्राचीन और आधुनिक साहित्य-रचनाओंमें साहित्य-कलाकी मर्यादा संयमकी साधनामें परिस्फुटित हो उठी है वे साहित्य-रचनाएँ हमारी शिक्षाका अंग नहीं, इसीलिए साहित्य-रचनाकी रीति और लक्ष्यको अभी तक हम अच्छी तरह समझ नही पा रहे हैं।

उस जमानेकी अंग्रेजी-साहित्य-शिक्षाकी तीव्र उत्तेजनाको जिन्होंने (अक्षय चन्द्र चौधरीने) हमारे समक्ष मूर्तिमान् बना दिया था वे हृदयके ही उपासक थे। सत्यको समग्ररूपसे उपलब्धि करना ही पर्याप्त नहीं, उसे हृदयसे अनुभव करनेमें ही मानो उसकी सार्थकता है,—ऐसा उनका मनोभाव था। ज्ञानकी दिशासे धर्ममें उनकी कोई आस्था ही नहीं थी, और मजा यह कि श्यामा-विषयक गीत गाते हुए उनकी आँखोंसे आँसू झरने लगते थे। इसके लिए उन्हें किसी सत्य वस्तुकी आवश्यकता नहीं थी, जो भी कोई कल्पना उनके हृदयावेगको उत्तेजित कर सकती थी उसीको वे सत्यकी भाँति काममें लाना चाहते थे। सत्य-उपलब्धिके प्रयोजनकी अपेक्षा हृदयानुभूतिका प्रयोजन प्रबल होनेसे ही, जिसमें वह प्रयोजन मिटता था वह स्थूल होनेपर भी, उसे ग्रहण करनेमें उन्हें कोई बाधा नहीं थी।

तत्कालीन युरोपीय साहित्यमें नास्तिकताका प्रभाव ही प्रबल था। तब बेंथमी बेन्थम (१७४८-१८३२), स्टुअर्ट मिल (१८०६-७३) और अगस्ते कोंते (१७९८-१८५७)का आधिपत्य था। उन्हींकी दलीलें लेकर हमारे यहाँके युवक तब बहस किया करते थे। युरोपमें मिलका युग इतिहासकी एक स्वाभाविक परिणति थी। मनुष्यके चित्तसे कूड़ा-करकट बुहार फेंकनेके लिए स्वभावके उद्यम रूपमें ही यह तोड़ने-फोड़ने और हटाने-गिरानेकी प्रलय-शक्ति कुछ दिनोंके लिए उद्यत हो उठी थी। किन्तु हमारे देशके लिए यह 'पाई चीज कमाई' थी। सत्य रूपमें काममें लानेके लिए हमलोगोंने उसका प्रयोग नहीं किया। हमने तो उसका महज एक मानसिक विद्रोहकी उत्तेजनाके रूपमें ही व्यवहार किया है। नास्तिकता हमारे लिए एक नशा था। यही वजह है कि तब हम दो तरहके आदमी देखा करते थे। ईश्वरके अस्तित्व-विश्वासको युक्ति-तर्कके अस्त्र-शस्त्रसे छिन्न-भिन्न करनेके लिए ऊपर चढ़कर आक्रमण करते रहना—एक श्रेणीके लोगोंका धन्धा ही था। पक्षियोंके शिकारमें शिकारीको जैसा आमोद मिलता है, पेड़के ऊपर या नीचे जहाँ-कहीं कोई सजीव प्राणी दिखाई दिया नहीं कि चटसे उसे खतम कर देनेको हाथ सुरसुराने लगते हैं, ठीक उसी तरह, जहाँ ये लोग देखते कि कोई निरीह विश्वास किसी विपत्तिकी आशंका किये बिना ही आरामसे बैठा है, बस चटसे उसे धराशायी करनेकी उत्तेजना इनमें पैदा हो जाती। थोड़े दिनोंके लिए हमें एक मास्टर पढ़ाने

ाये थे, उन्हें ऐसे आमोदका शौक था। मैं तब बहुत छोटा बालक था, पर मुझे
। वे नही छोड़ते थे। मजा यह कि उनकी विद्या साधारण ही थी, और ऐसा भी
हीं कि उन्होने सत्यानुसन्धानके उत्साहमें समस्त मतामतोंकी आलोचना करनेका
ोई निर्दिष्ट मार्ग अख्तियार किया हो। उनका कृतित्व तो सिर्फ इतना ही था कि
ान्य किसीके मुंहसे जो तर्क वे सुनते थे उनका प्रयोग वे जरूर करते थे। मैं जी-
ानसे उनसे लड़ता था, किन्तु उनके सामने मैं अत्यन्त असमकक्ष प्रतिपक्षी होनेसे
मुझे बराबर दुःख ही उठाना पडता था। किसी-किसी दिन तो मुझे इतना गुस्सा
आता कि रोनेको जी चाहने लगता था।

और-एक दल था जो वास्तवमें धर्मका विश्वास नही करता किन्तु सम्भोग करता था। इसीलिए वह धर्मको उपलक्ष्य बनाकर कला-कौशल और शब्द-गन्ध-रूप-रसोके जितने भी प्रकारके आयोजन होते, उन सबका भोगीकी तरह आश्रय लेकर उन्हीमें तल्लीन रहना पसन्द करता था, भक्ति ही उनका विलास था। इन दोनों दलोंका सशयवाद और नास्तिकता सत्य-सन्धानकी तपस्याजात नही थी, मुख्यतः वह आवेगकी उत्तेजना थी।

यद्यपि यह धर्म-विद्रोह मुझे पीड़ा देता था, तथापि यह नही कहा जा सकता कि उसका मुझपर कोई असर ही न पड़ा हो। यौवनके प्रारम्भमें बुद्धिके औद्धत्य के साथ इस विद्रोहने मेरे मनमें भी जगह कर ली थी। हमारे परिवारमें जो धर्म साधना चालू थी उसके साथ मेरा कोई सम्पर्क नही था, मैंने उसे ग्रहण नहीं किया। मैं तो सिर्फ अपने हृदयावेगकी भट्टीमें धौंकनी चला-चलाकर खूब जोरकी आग जला रहा था। वह केवल अग्नि-पूजा थी, आहुतियाँ दे-देकर शिखाको बढ़ाये जानेका प्रयत्न मात्र था वह। उसका और-कोई लक्ष्य नही था। और लक्ष्य न होनेसे ही उसका कुछ परिणाम भी नही था। उसे जितना बढाना चाहता उतना ही बढा सकता था।

जैसा कि धर्मके सम्बन्धमें था, ठीक वैसे ही अपने हृदयावेगके सम्बन्धमें भी किसी सत्यके अस्तित्वका कोई प्रयोजन नहीं था, उत्तेजना ही यथेष्ट थी। उस जमानेके किसी कविकी एक कविता मुझे याद है :—

'बेचा नही हृदय किसीको, मेरा हृदय मेरा ही है ;

टूटा-फूटा जैसा भी है, मेरा हृदय मेरा ही है।'

सत्यके हृदय मात्रको कोई वस्तु नहीं, उसके लिए टूटना-फूटना या और किसी तरह भी दुर्घटना बिलकुल ही अनावश्यक है; दुःख-वैराग्यका सत्य स्पृहाके योग्य नहीं, किन्तु उसकी उग्रता उपभोगकी सामग्री है,— इसलिए काव्यमें उसका कारोबार चलता आ रहा था,— इसीको कहते हैं 'देवताको अलग करके देवोपासनाका रस छान लेना'। अभी भी हमारे देशसे यह बला टली नहीं है। इसीलिए आज भी धर्मको जहाँ हम सत्यमें प्रतिष्ठित नहीं कर पाते वहाँ अपनी भावुकतासे उसे कलाकी श्रेणीमें डालकर उसका समर्थन किया करते हैं। और इसीलिए ढेरकी ढेर हमारी देश-हितैषिता देशकी यथार्थ सेवा नहीं, बल्कि देशके सम्बन्धमें हृदयमें एक भाव अनुभव करनेका आयोजन मात्र है।

विलायती संगीत

ब्राइटनमें रहते समय मैं एक बार वहाँकी संगीतशालामें किसी एक प्रसिद्ध गायिकाका गीत सुनने गया था। उनका नाम मैं भूल रहा हूं,— मैडम नीलसन् या मैडम अलबानी होगी। कंठस्वरमें ऐसी आश्चर्यमय शक्ति मैंने पहले कभी नहीं देखी। हमारे देशमें बड़े-बड़े उस्ताद गायकगण भी गाना गानेके प्रयासको ढकके नहीं रख सकते,— स्वरोंका उतार-चढ़ाव उनके गलेमें सरलतासे नहीं खेलता; और, चाहे जैसे उसे प्रकट करनेमें उन्हें कोई लज्जा नहीं। कारण, हमारे देशमें श्रोताओंमें जो रसज्ञ होते हैं वे अपनी बोध-शक्तिके जोरसे ही अपने मनमें गानेको खड़ा करके प्रसन्न हुआ करते हैं, और इसीलिए वे सुकण्ठ गायककी सुललित गायन-भंगिमाकी अवज्ञा किया करते हैं। इस तरह बाहरकी कर्कशता और कुछ-कुछ असम्पूर्णतामें ही मानो असल वस्तुका यथार्थ स्वरूप बिना आवरणके ही प्रकट होता है। मानो यह महेश्वरके बाह्य दारिद्र्यके समान हो, जिसमें उनका ऐश्वर्य नग्न होकर दिखाई देता है। युरोपीय संगीतमें यह बात बिलकुल नहीं है। वहाँ बाहरका आयोजन बिलकुल निर्दोष होना चाहिए,— यहाँ तक कि वहाँ अनुष्ठानमें त्रुटि होनेसे मुंह दिखाना दुश्वार हो जाता है। और, हमलोग संगीत-सभामें बैठ

कर आध-आध घंटे तक तानपूरेके कान ऐंठते और तबलोंपर हथौड़ी ठोंकते रहनेमें किसी तरहका संकोच ही नहीं करते। किन्तु युरोपमें इन सब उद्यमोंको नेपथ्यमें छिपाके रखा जाता है; वहाँ बाहर जो भी कुछ प्रकट होता है वह सम्पूर्णतः सम्पूर्ण ही होता है। इसलिए वहाँ गायकके कण्ठस्वरमें कहीं भी लेशमात्र कमजोरी हुई तो वह चल नहीं सकती। हमारे देशमें गाना साधना ही मुख्य है, हमारी जो भी कुछ दुरूहता है उस गानेमें ही; किन्तु युरोपमें गला साधना ही मुख्य है, उस गलेके स्वरसे वह असाध्यका साधन करते हैं। हमारे देशमें जो यथार्थ श्रोता हैं वे गीतको सुनकर ही सन्तुष्ट हो जाया करते हैं; किन्तु युरोपके श्रोता 'गाना गाने'को सुनते हैं। उस दिन ब्राइटनमें मैंने यही बात देखी। उस गायिकाका गीत गाना अद्भुत था। मुझे ऐसा लगा मानो कंठस्वर सर्कसका घोड़ा हाँके जा रहा हो। कंठनलीमें सुरकी लीलाको कहीं भी किसी बाधाका सामना नहीं करना पड़ रहा। मनमें चाहे कितना ही आश्चर्य क्यों न हुआ हो, उस दिनके गाने मुझे कतई अच्छे नहीं लगे। खासकर उसमें बीच-बीचमें जो पक्षियोंकी बोली जैसी नकल थी वह मुझे अत्यन्त हास्यजनक प्रतीत हुई। कुल-जमा मेरे मनमें बार-बार यही बात उठने लगी कि यह तो मनुष्य-कण्ठकी प्रकृतिका अतिक्रम करना है। उसके बाद पुरुष गायकोंके गाने सुने, और सुनकर आराम मिला,— खासकर जिसे 'टेनर' कंठ कहते हैं वह बिल्कुल ही पथभ्रान्त आँधीकी हवाका अशरीरी विलाप जैसा नहीं मालूम हुआ ; उसमें नर-कण्ठके रक्त-मांसका परिचय मिलता है। इसके बाद गाना सुनते-सुनते और सीखते-सीखते युरोपीय संगीतका रस पाने लगा। किन्तु आज तक मेरे मनकी इस धारणामें कोई परिवर्तन नहीं हुआ कि युरोपीय संगीत और भारतीय संगीत दोनोंका विभाग ही अलग-अलग है,— ठीक एक दरवाजेसे हृदयके एक ही जगह वे प्रवेश नहीं करते। युरोपका संगीत मानो मनुष्यके वास्तव-जीवनके साथ विचित्ररूपसे जकड़ा हुआ है। यही वजह है कि वहाँ सभी तरहकी घटनाओं और वर्णनाओंके आधारपर सुर बाँधा जा सकता है। किन्तु हमारे देशी सुरमें अगर वैसा करना चाहें तो वह अद्भुत हो जायगा, उसमें कोई रस ही नहीं रह जायगा। हमारे गाने मानो जीवनके प्रतिदिनके वेष्टनको अतिक्रम कर जाते हैं, इसीलिए उनमें इतनी करुणा है, इतना वैराग्य है। मानो वह विश्व-प्रकृति और

मानव-हृदयके किसी अन्तरतर और अनिर्वचनीय रहस्यका रूप दिखानेके लिए नियुक्त किया गया हो। यह रहस्यलोक अत्यन्त निभृत निर्जन और गंभीर है; वहाँ भोगीका सुख-कुंज और भक्तका तपोवन दोनों ही रचा-हुआ प्रस्तुत है, किन्तु कर्मरत संसारीके लिए वहाँ किसी भी तरहकी सुव्यवस्था नहीं।

यह कहना तो मेरे लिए उचित न होगा कि मैं यूरोपीय संगीतके मर्मस्थलमें प्रवेश कर सका हूं। किन्तु बाहरसे मुझे जो कुछ अधिकार प्राप्त हुआ था उससे मैं कह सकता हूं कि यूरोपके गाने मेरे हृदयको एक दिशामें खूब ही आकर्षित किया करते थे। मुझे लगता कि यह संगीत रोमैण्टिक है। रोमैण्टिक कहनेसे ठीक क्या समझमें आता है, विश्लेषण करके कहना कठिन है। किन्तु मोटी तौरपर कहा जाय तो कहना होगा कि रोमैण्टिककी दिशा है विचित्रताकी दिशा, प्राचुर्यकी दिशा, जीवन-समुद्रकी तरंग-लीलाकी दिशा, अविराम गति-चाञ्चल्यपर आलोक-छायाके द्वन्द्व-सम्पातकी दिशा। और-एक दिशा है, और वह है विस्तार, आकाश-नीलिमाकी निर्निमेषता, सुदूर दिगन्त-रेखामें असीमताका निस्तब्ध आभास। कुछ भी हो, बात स्पष्ट भले ही न हो पाये, किन्तु यह सच है कि मैंने जब भी यूरोपीय संगीतका रस-भोग किया है तभी बार-बार मनमें कहा है, 'यह रोमैण्टिक है।' यह मानव-समाजकी विचित्रताको गानेके सुरमें अनुवाद करके प्रकट कर रहा है। हमारे संगीतमें कहीं-कहीं ऐसी चेष्टा न हो सो बात नहीं, किन्तु वह चेष्टा प्रबल और सफल नहीं हो पाई है। हमारा संगीत भारतवर्षके नक्षत्र-खचित निशीथिनीको और नवोन्मेषित अरुण-रागको भाषा देता है। हमारा संगीत है घन-वर्षाकी विश्वव्यापी विरह-वेदना और नव-वसन्तके वनान्त-प्रसारित गंभीर उन्मादनाका वाक्य-विस्मृत विह्वलता।

'वाल्मीकि-प्रतिभा'

हमारे घर पन्ने-पन्नेमें चित्र-चित्रित एक पुस्तक थी, कवि म्यूरकी 'आइरिश मेलॉडीज'। अक्षय बाबूके मुहसे मैं उन कविताओंकी मुग्ध आवृत्ति बहुत बार सुन चुका था। चित्रोंसे विजड़ित उन कविताओंने मेरे मनमें आयरलैण्डका एक

प्राचीन मायालोक सृजन कर दिया था। तब मैंने उन कविताओंकी धुन नहीं सुनी थी। उनके सुर मेरी कल्पनामें ही पनप रहे थे। चित्रमें जो वीणा चित्रित थी उसीका सुर मेरे मनमें बजा करता था। मेरी बड़ी इच्छा हुई कि उन कविताओं को मैं सुरमें सुनूं, सुर सीखूं और सीखकर अक्षय बाबूको सुनाऊं। किन्तु दुर्भाग्यसे जीवनकी कोई-कोई इच्छा पूरी होती है और पूरी होते ही वह आत्महत्या भी कर लेती है। विलायत जाकर मैंने 'आइरिश मेलॉडीज'के गीत सुने और सीख भी लिये; किन्तु आखिर तक उनमें पूर्णता पानेकी इच्छा ही नहीं रह गई। निस्सन्देह उनमेंसे बहुत-से सुर मीठे थे, करुण थे, और सरल भी, मगर फिर भी आयरलैण्डकी प्राचीन कवि-सभाकी उस नीरव-वीणाने, जो चित्रमें अंकित थी, इनके सुरमें अपना सुर नहीं मिलाया।

देश आकर वे गीत तथा और भी कितने ही विलायती गाने मैंने स्वजन-समाजमें गाये थे। सबोंने कहा, 'रविका गला ऐसा बदल कैसे गया! कैसा तो विदेशी किस्मका, मजेका हो गया है।' वे यहां तक कहने लगे कि मेरे बात कहनेके स्वर्का भी कैसा तो सुर बदल गया है।

इस देशी और विदेशी सुरके अनुशीलनमें 'वाल्मीकि-प्रतिभा'का जन्म हुआ। इसके सुर अधिकाश ही देशी है, किन्तु इस गीति-नाट्यमें उन्हें बैठकी मर्यादामेंसे अन्य क्षेत्रमें निकाल लाया गया है; उड़के चलना जिसका व्यापार था उसे जमीनपर दौड़नेके काममें लगा दिया गया। जिन्होंने इस गीति-नाट्यका अभिनय देखा है, आशा है वे इस बातको स्वीकार करेंगे कि संगीतको इस तरह नाट्य-कार्यमें नियुक्त करना असगत या निष्फल नहीं हुआ। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' गीति-नाट्यकी यही विशेषता है। संगीतके इस प्रकारके बन्धन-मोचनने और निःसंकोच होकर सब प्रकारके व्यवहारमें लगानेके आनन्दने मेरे मनपर विशेषरूपसे अधिकार कर लिया था। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' के बहुत-से गाने बैठकी गानोंके ढगके हैं, बहुत-से ज्योति दादाके रचे हुए सुरोंमें गुंथे हुए हैं, और दो-तीन गाने विलायती सुरोंके आधारपर रचे गये हैं। हमारे बैठकी गानेकी तान यानी अलापके स्वरोंका आसानीसे ऐसे नाटकोंके लिए व्यवहार किया जा सकता है; और इस नाट्यमें अनेक स्थलोंपर ऐसा किया गया है। विलायती सुरोंमेंसे दोका प्रयोग डाकुओंकी मत्तताके गानोंमें

किया गया है। और-एक आइरिश सुर बनदेवोंके शिकार-गानमें बिठाया गया है। फलस्वरूप 'वाल्मीकि-प्रतिभा' पाठ्य-योग्य काव्य-ग्रन्थ नहीं, यह संगीतकी एक नई परीक्षा है,— अभिनयके साथ कानोंसे सुने बिना उसका कोई स्वाद पाना सम्भव नहीं। यूरोपीय भाषामें जिसे 'ऑपेरा' कहते हैं, 'वाल्मीकि-प्रतिभा' वह भी नहीं। असलमें यह सुरमें नाटक है, अर्थात् संगीतने ही इसमें प्राधान्य नहीं पाया; इसमें केवल नाट्य विषयको सुरमें अभिनय किया जाता है,— स्वतन्त्र संगीतका माधुर्य इसमें बहुत कम स्थलोंमें ही मिलेगा।

मेरे विलायत जानेसे पहले हमारे घरपर बीच-बीचमें 'विद्वज्जन-समागम'के नामसे साहित्यिकोंका सम्मेलन हुआ करता था। उस सम्मेलनमें गीत-वाद्य और कविता-पाठके अलावा खाने-पीनेका भी आयोजन होता था। मेरे विलायतसे लौटनेके बाद एक बार ऐसा सम्मेलन (फागुन, १९३७) हुआ था और वही उसकी अन्तिम बैठक थी। इसी सम्मेलनके उपलक्ष्यमें 'वाल्मीकि-प्रतिभा' रची गई थी। मैं वाल्मीकि बना था, और मेरी भतीजी प्रतिभा (हेमेन्द्रनाथकी बड़ी पुत्री)ने सरस्वतीका अभिनय किया था। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' नाममें इतना-सा इतिहास रह गया है।

हर्बर्ट स्पेन्सरकी किसी रचनामें मैंने पढ़ा था, "साधारणतः बातचीतमें जहाँ भी थोड़ा-कुछ हृदयावेगका सञ्चार होता है वहीं स्वतः ही कुछ-न-कुछ सुर बन जाता है। इसी बातचीतके आनुषंगिक सुरको ही उत्कर्ष करके मनुष्यने संगीत प्राप्त किया है।" स्पेन्सरकी यह बात मेरे मनमें पैठ गई थी। मनमें सवाल उठा कि, इस मतके अनुसार शुरूसे आखिर तक सुरोंमें ढालकर नाना प्रकारके भावोंको संगीतमें प्रकट करके अभिनय करना आखिर क्यों नहीं हो सकता? हमारे देशमें कथकतामें कुछ-कुछ यही चेष्टा है। उसमें वाक्य कभी-कभी सुरका आश्रय लेता है जब कि वह तालके लिहाजसे ठीक संगीत नहीं। छन्दकी दृष्टिसे अमित्राक्षर छन्द जैसा है, गानेके हिसाबसे यह भी वैसा ही है। इसमें तालके कड़े बन्धन नहीं, एक लयकी मात्रा है। इसका एकमात्र उद्देश्य है बातके भीतर आवेगको परिस्फुट करना, न कि किसी विशेष राग या तालको विशुद्ध रूपमें प्रकट करना। 'वाल्मीकि प्रतिभा'के गानेके सम्बन्धको सम्पूर्णतः नहीं तोड़ा गया, फिर भी भावोंका अनुगमन

करनेमें तालको खर्व (छोटा) करना पड़ता है। और अभिनय ही मुख्य होनेसे तालका यह व्यतिक्रम श्रोताओंको दुःख नही देता।

'वाल्मीकि-प्रतिभा'के गान-सम्बन्धी इस नवीन पन्थमें उत्साह अनुभव करके इस श्रेणीका और भी एक गीति-नाट्य लिखा था। उसका नाम है 'काल-मृगया' (सन् १८८२), और विषय दशरथ द्वारा अन्ध-मुनिका पुत्र-वध। तीसरी मंजिल की छतपर स्टेज बनाकर इसका अभिनय किया गया था। इसके करुण-रससे श्रोतागण अत्यन्त विचलित हो गये थे। बादमें, इस गीति-नाट्यका बहुत-सा अंश 'वाल्मीकि-प्रतिभा' के साथ मिला दिया था (सन् १८८५), इसलिए फिर उसका पृथक रूप नही रह गया।

इसके कुछ ही दिन बाद 'मायाका खेल' नामक और-एक गीति-नाट्य लिखा था, किन्तु वह भिन्न जातकी चीज है। उसमें नाट्य मुख्य नहीं, गीत ही मुख्य है। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' और 'काल-मृगया' जैसे गानके सूत्रमें नाट्यकी माला है, 'माया का खेल' वैसे ही नाट्यके सूत्रमें गानकी माला है। घटनास्रोतपर वह निर्भर नहीं, हृदयावेग ही उसका प्रधान उपकरण है। वास्तवमें, 'मायाका खेल' जब लिखा था तब मेरा सम्पूर्ण मन गानके रससे ही अभिषिक्त हो रहा था।

जिस उत्साहसे 'वाल्मीकि-प्रतिभा' और 'काल-मृगया' लिखी थी वैसे उत्साह से दो रचनाओंमें उस समयकी हमारी संगीतकी उत्तेजना प्रकट हुई है। ज्योति दादा उन दिनों प्रायः रोज ही दिन-दिन-भर उस्तादी गानोंको पियानोमें डालकर उनका यथेच्छ मन्थन किया करते थे। उससे हुआ यह कि राग-रागिनियोंकी क्षण-क्षणमें एक-एक अपूर्व मूर्ति और भाव-व्यंजना प्रकट होती रही। जो सुर बँधे नियमोंमें मन्दगतिमे कायदेके साथ चला करते थे उन्हें प्रथा-विरुद्ध विपर्यस्त रूपमें दौड़ाते ही उस क्रान्तिसे उनकी प्रकृतिमें नई-नई अचिन्तनीय शक्तियाँ दिखाई देने लगी और वे हमारे चित्तको सर्वदा विचलित करती रही। हमलोगोंको स्पष्ट सुनाई देता, मानो सुर नाना प्रकारकी बातें कर रहे हों। मैं और अक्षय बाबू दोनों मिलकर कभी-कभी ज्योति-दादाके उस बाजेके साथ-साथ सुरमें शब्द जोड़ने की कोशिश किया करते। शब्द सुपाठ्य होते हों सो बात नही, वे सिर्फ उस सुरके वाहनका काम करते थे।

ऐसे ही मामूल-तोड़ गीति-विप्लवके प्रलयानन्दसे उक्त दोनों नाट्य लिखे गये थे। इसलिए उनमें ताल-बेतालका नृत्य है और अंग्रेजी-बंगलाका भेदभाव नहीं है। मैंने अपने अनेक मत और रचना-रीतियोंसे देशके पाठक-समाजको बार-बार परेशान किया है, किन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि संगीतके सम्बन्धमें उक्त दोनों गीति-नाट्योंमें जो दुःसाहसिकता प्रकट हुई है उसपर किसीने कोई क्षोभ प्रकट नहीं किया; और सभी प्रसन्न होकर घर लौटे हैं। 'वाल्मीकि-प्रतिभा' में अक्षय बाबूके कई गीत हैं; और दो गीतोंमें विहारीलाल चक्रवर्तीके 'सारदा-मंगल-संगीत'के दो-एक स्थलोंकी भाषा भी व्यवहृत हुई है।

उक्त दोनों गीति-नाट्योंके अभिनयमें मैंने ही प्रधान पद ग्रहण किया था। बाल्यकालसे ही मेरे मनमें नाट्य-अभिनयका शौक था। मेरा दृढ़ विश्वास था कि इस कार्यमें मेरी स्वाभाविक निपुणता है। मेरा यह विश्वास बेबुनियाद नहीं था, यह बात प्रमाणित हो चुकी है। नाट्यमंचपर सर्व-साधारणके समक्ष प्रकट होनेके पहले ज्योति-दादाके "ऐसा काम अब न करूंगा" प्रहसनमें मैं अलीक-बाबू बन चुका था। यही मेरा प्रथम अभिनय (सन् १८७७) था। तब मेरी उमर भी कम, गाना गानेमें कण्ठमें किसी तरहकी थकान या बाधा कतई नहीं आती थी। उन दिनों घरपर दिनपर दिन धारावाहिक-रूपसे संगीतका अविरल-विगलित झरना बहा करता था और उसका सीकर-वर्षण मानो मेरे मनपर सुरोंका इन्द्रधनुषी रंग चढ़ाता रहता था। तब नवयौवनके नये-नये उद्यम नये-नये कौतूहलके मार्गसे दौड़ लगा रहे थे, सभी चीजें आजमा देखनेको मन चला करता था, कभी ऐसा खयाल भी न आता कि यह काम मैं नहीं कर सकता। तब लिखता था, गाता था, अभिनय करता था, अपनेको सब तरफसे खूब-खूब उँड़ेलता रहता था,—अपनी उस बीस सालकी उमरमें मैंने इसी तरह कदम रखे हैं। उस दिन मेरी जो यह सम्पूर्ण शक्ति इस तरह दुर्दम्य उत्साहसे दौड़ लगा रही थी, उसके सारथि थे ज्योति दादा। उनमें किसी प्रकारका भय नहीं था। जब मैं निहायत बच्चा था तब उन्होंने मुझे घोड़ेपर चढ़ाकर अपने साथ दौड़ लगवाई है, उनके मनमें इस बातका कोई उद्वेग ही नहीं देखा कि अनाड़ी सवार ठहरा, गिर जायगा। उसी बाल्यावस्थाकी बात है, एक दिन सिलाइदहमें जब खबर आई कि गाँवके जंगलमें शेर

आया है तो मुझे वे अपने साथ शिकारमें ले गये। मेरे हाथमें अस्त्र नहीं था, और होता भी तो उससे शेरकी अपेक्षा मुझे ही ज्यादा खतरा था। जंगलके बाहर जूते खोलकर बांसके एक अध-कटे झाड़पर चढकर मैं ज्योति-दादाके पीछे किसी तरह बैठ गया,– इतना भी उपाय न रह गया कि असभ्य जानवर अगर वदनपर हाथ उठाये तो जूते ठोंककर उसे अपमानित किया जा सके। इस तरहसे भीतर और बाहर सब तरफसे, खतरेकी सम्भावनाओंमें भी, उन्होंने मुझे मुक्ति दी थी,– किसी भी विधि-विधानकी उन्होंने परवाह नहीं की, और मेरी सम्पूर्ण चित्तवृत्तिको उन्होंने संकोच-मुक्त कर दिया था।

'संध्या-संगीत'

अपनेमें अवरुद्ध जिस अवस्थाका उल्लेख मैं पहले कर चुका हूं, मोहितचन्द्र सेन द्वारा सम्पादित मेरी ग्रन्थावलीमें उस अवस्थाकी कविताएँ 'हृदय-अरण्य'के नामसे निर्दिष्ट की गई हैं। 'प्रभात-संगीत'में 'पुनर्मिलन' शीर्षक कवितामें एक जगह हृदय-अरण्यका वर्णन है; और उसीसे यह नाम लिया गया है। कविताका भाव यह है कि 'हृदय नामका एक विशाल अरण्य है, जिसका कहीं भी किसी दिशामें ओर-छोर नहीं; उसमें मैं पथभ्रान्त हो गया हूं। वह वन अन्धकारसे ढका हुआ है,– किन्तु उसकी जटिल शाखाएँ सहस्र स्नेह-बाहुओंसे अन्धकारको छातीसे लगाये पाले ही जा रही हैं।'

इस तरह बाहरके साथ भीतरका जब योग नहीं था, जब अपने हृदयमें ही तल्लीन अवस्थामें था, जब कारणहीन आवेग और लक्ष्यहीन आकांक्षाओंमें मेरी कल्पना नाना छद्मवेशमें भ्रमण कर रही थी, तबकी अनेक कविताएँ नई ग्रन्थावली से निकाल दी गई हैं,– सिर्फ 'संध्या-संगीत'में प्रकाशित कुछ कविताओंको हृदय-अरण्य-विभागमें स्थान मिला है।

किसी समय ज्योति-दादा दूर-देशमें भ्रमण करने गये थे; और तब तीसरी मंजिलके छतवाले कमरे सूने पड़े थे। उस समय, मैंने उस छत और कमरोंमें अधिकार जमाकर कितने ही निर्जन दिन वहाँ विताये थे। इस तरह जब मैं अपनी

धुनमें अपनाप बह रहा था सब, मालूम नहीं कैसे, काव्य-रचनाके जिस संस्कारमें मैं वेष्टित था वह केंचुलीकी तरह अलग जा गिरा। मेरे साथी लोग जिन कविताओंको पसन्द करते थे, और उनसे ख्याति पानेकी इच्छासे मेरा मन स्वभावतः ही जिन कविताओंके ढाँचेमें लिखनेकी चेष्टा किया करता था, शायद ख्याति-दाताके दूर चले जाते ही अपने-आप उन कविताओंके शासनसे मेरा चित्त मुक्त हो गया।

फिर मैं स्लिटपर कविता लिखने लगा। यह भी शायद मुक्तिका एक लक्षण था। इसके पहले कमर कसके कापीपर जब कविता लिखा करता था उसमें निश्चय ही बाकायदा काव्य लिखनेका एक प्रण था, कवि-यशकी पक्की स्याहीमें वे जमा होती रहती थीं इसलिए अवश्य ही उसमें औरोंके साथ तुलना करके मन-ही-मन हिसाब मिलानेकी चिन्ता थी; किन्तु स्लिटपर जो कुछ लिखता सो लिखनेके लिए ही लिखता। स्लिट ऐसी चीज है जो कहती है कि 'डरनेकी क्या बात है, जो जीमें आये सो लिखो न, हाथ फेरते ही तो मिट जायगा।' किन्तु इस तरह दो-एक कविता लिखते ही मनमें बड़ा-भारी एक आनन्दका आवेग आ गया। मेरा सम्पूर्ण अन्तःकरण बोल उठा, 'खूब बचा, अब जो कुछ भी लिख रहा हूं, इसमें किसीका साझा नहीं, सब मेरा अपना ही है।'

इसे कोई मेरा गर्वोच्छ्वास न समझें। पहलेकी अनेक रचनाओंमें बल्कि गर्व था, कारण गर्व ही उन रचनाओंका शेष वेतन था। अपनी प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें सहसा निःसंशयता अनुभव करनेमें जो परितृप्ति है उसे मैं अहंकार नहीं कहूंगा। बच्चेपर मा-बापका पहला जो आनन्द है वह बच्चा सुन्दर होनेकी वजहसे नहीं, बल्कि इसलिए है कि वह यथार्थमें उन्हींका अपना है। इसके साथ-साथ बच्चेके गुणोंकी याद करके वे गर्व अनुभव कर सकते हैं, किन्तु वह बिलकुल अलग चीज है। इस स्वाधीनताके प्रथम आनन्दके वेगमें छन्दोबद्धकी मैंने कतई खातिर करना छोड़ दिया। नदी जैसे खोदी-हुई नहरकी तरह सीधी नहीं चलती, मेरे छन्द भी उसी तरह टेढ़े-तिरछे होकर नाना मूर्ति धारण करते हुए चलने लगे। पहले इसे मैं अपराधमें ही शामिल करता, किन्तु अब उसके लिए संकोचका नाम तक नहीं रह गया। स्वाधीनता अपना प्रथम-प्रचार करते समय नियम तोड़ती है, उसके बाद वह अपने हाथसे नियम गढ़ती है; और तभी वह यथार्थमें अपने अधीन होती है।

मेरी उन उच्छृंखल कविताओंके एकमात्र श्रोता थे अक्षय बाबू। वे सहसा मेरी इन कविताओंको देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आश्चर्य प्रकट करने लगे। उनसे अनुमोदन पानेके बाद मेरा रास्ता और भी प्रशस्त हो गया।

विहारीलाल चक्रवर्ती महाशयने अपने 'वंग-सुन्दरी' काव्यमें जिस छन्दका प्रवर्तन किया था वह तीन मात्रा-मूलक है; जैसे :—

"एक दिन देव तरुण तपन
हेरिलेन सुर-नदीर जले
अपरूप एक कुमारी-रतन
खेला करे नील नलिनीदले।"

तीन-मात्रा वस्तु दो-मात्राकी तरह चौखूटी नही है, वह गोलेकी तरह गोल है, और इसलिए वह तेजीसे लुढ़कती हुई चली जाती है,— उसका यह वेगवान नृत्य मानो बार-बार झंकारकर नूपुर बजाता रहता है। किसी दिन इसी छन्दका मैं अधिकतर व्यवहार किया करता था। यह मानो पैरोंसे चलना नही, बाइ-साइकिलपर दौड़ना है। इसीका मुझे अभ्यास हो गया था। 'संध्या-संगीत'में मैंने जान-बूझकर नही बल्कि स्वभावतः ही इस बन्धनका छेदन किया था। तब किसी बन्धनकी तरफ नही देखा। मनमें मानो कोई डर-भय ही नही था। लिखता चला गया हू, किसीके आगे किसी तरहकी जवाबदेहीकी बात ही नही सोची। किसी प्रकारके पूर्व-संस्कारकी खातिर बिना रखे ही इस तरह लिखते जानेसे मुझे जो बल मिला था उसीसे मैंने पहले-पहल यह आविष्कार किया कि जो मेरे सबसे ज्यादा नजदीक पड़ा था उसीको मैं दूर ढूढता फिर रहा था। सिर्फ अपने ऊपर भरोसा न कर सकनेसे ही अपनी चीजको नही पा सका। सहसा स्वप्नमेंसे जागकर देखा कि मेरे हाथोंमें जजीर नही बँधी है। इसीलिए, अपने इस आनन्दको प्रकट करनेके लिए कि अपने हाथोका मैं यथेच्छ व्यवहार कर सकता हूं, मैंने इच्छानुसार हाथ चलाये हैं।

मेरे काव्य लिखनेके इतिहासमें यही समय मेरे लिए सबसे अधिक स्मरणीय है। काव्यकी दृष्टिसे 'सध्या-सगीत'का मूल्य ज्यादा भले ही न हो। उसकी कविताएँ काफी कच्ची हैं। उसके छन्द उसकी भाषा, उसके भाव मूर्ति धारण

भरके परिस्फुट नहीं हो पाये हैं। फिर भी, उसमें जो गुण है वह यह है कि 'मैंने सत्रह एक दिन अपने मुनेमें जो नवीनपनमें आया सो लिखा है।' इसलिए, उस रचनाका मूल्य भले ही न हो, पर मेरी 'नवीनपन'का मूल्य जरूर है।

संगीतके विषयमें निबन्ध

विलायतमें बैरिस्टर होनेके लिए तैयारी शुरू ही की थी कि इतनेमें पिताजीने मुझे देश बुला लिया। कृतित्व प्राप्त करनेका ऐसा मौका हाथसे निकल जानेसे मेरे किसी-किसी मित्रने दुःखित होकर मुझे फिर विलायत भेजनेके लिए पिताजीसे अनुरोध किया। इस अनुरोधके जोरसे मैंने फिर विलायतके लिए यात्रा की। साथमें सत्यप्रसाद भी थे। किन्तु 'मेरे बैरिस्टर होने'को भाग्यने ऐसा नामंजूर किया कि विलायत जानेसे भी हाथ धो बैठा, —विशेष कारणसे मद्राससे ही वापस चला आना पड़ा। घटना जितनी जबरदस्त थी, कारण तदनुरूप कुछ भी नहीं था; सुनेंगे तो लोग हँसेंगे, और उस हँसीका एकमात्र पात्र मैं ही हूँ, इसलिए उसका वर्णन नहीं कर सका। कुछ भी हो, लक्ष्मीका प्रसाद पानेके लिए दो-दो बार यात्रा की और दोनों ही बार अपना-सा मुँह लिये लौट आया। आशा है, बार-लाइब्रेरीका भू-भार न बढ़ानेसे कानून-देवता मुझे सदय-दृष्टिसे ही देखेंगे।

पिताजी तब मसूरी पहाड़पर थे। बड़ा डरता-हुआ उनके पास गया था। उन्होंने जरा भी नाराजी प्रकट नहीं की, बल्कि ऐसा लगा कि वे खुश हुए। जरूर उन्होंने ऐसा समझा होगा कि लौट आना ही मेरे लिए मंगलजनक है और यह मंगल ईश्वरके आशीर्वादसे ही हुआ।

दूसरी बार विलायत रवाना होनेके एक दिन पहले शामको बेथून-सोसाइटीके आमंत्रणसे मेडिकल कालेजके हालमें मैंने एक निबन्ध पढ़ा था। किसी सभामें यही मेरा प्रथम निबन्ध-पाठ था। सभापति थे वयोवृद्ध रेवरेण्ड कृष्णमोहन बनर्जी। निबन्धका विषय था 'संगीत'। यंत्र-संगीतका विषय छोड़कर मैंने गेय संगीतके विषयमें यही बात समझानेकी कोशिश की थी कि गीतके शब्दोंको ही गानेके सुरमें परिस्फुट कर देना इस श्रेणीके संगीतका मुख्य उद्देश्य है। मेरे निबन्धमें लिखित

अंश थोड़ा ही था। मैंने दृष्टान्त दे-देकर वक्तव्यके समर्थनकी चेष्टामें लगभग शुरूसे आखिर तक नाना प्रकारके सुरोंमें नाना भावोंके गीत गाये थे। सभापति महोदयने 'वन्दे वाल्मीकि-कोकिलं' कहकर मेरे प्रति जो यथेष्ठ साधुवादका प्रयोग किया था उसका प्रधान कारण मैं यह समझता हूं कि मेरी उमर तब कम थी और बालक-कंठसे नाना प्रकारके विचित्र गीत सुनकर उनका मन आर्द्र हो गया था। किन्तु जिस मतको मैंने तब इतनी स्पर्धाके साथ व्यक्त किया था वह मत सत्य नहीं था- इस बातको आज मैं मंजूर करता हूं। गीति-कलाकी अपनी ही एक विशेष प्रकृति और विशेष कार्य है। गीतमें जब कि वाक्य रहते हैं तो वाक्योंके लिए यह उचित नहीं कि इस मौकेसे वे गानेको पीछे छोड़कर खुद आगे बढ़ जायें, वहाँ वे गीतके ही वाहन मात्र हैं। गीत अपने ऐश्वर्यमें ही बड़ा है, वाक्योंकी दासता वह क्यों करने लगा? वाक्य जहाँ समाप्त हुए हैं वहीं गीतका आरम्भ है। जहाँ अनिर्वचनीय है वहीं गीतका प्रभाव है। वाक्य जो नहीं कह सकते, गान वही कहता है। इसलिए गीतकी शब्दावलीमें शब्दोंका उपद्रव जितना ही कम हो उतना ही अच्छा। प्राचीन हिन्दी गानोंमें शब्द साधारणतः इतने अकिंचित्कर होते हैं कि उन्हें अतिक्रम करके सुर अपना आवेदन अनायास ही प्रचार कर सकता है। इस तरह राग-रागिनियाँ जहाँ केवल-मात्र स्वरके रूपमें ही हमारे चित्तको सुन्दर-रूपमें जाग्रत कर सकती हैं वहीं संगीतका उत्कर्ष है। किन्तु बंगाल प्रान्तमें बहुत समयसे शब्दोंका ही आधिपत्य है और वह इतना जबरदस्त है कि यहाँ विशुद्ध संगीत अपना स्वाधीन अधिकार नहीं पा सका। यही वजह है कि इस प्रदेशमें उसे अपनी बहन काव्य-कलाके आश्रयमें ही रहना पड़ता है। वैष्णव कवियोंकी पदावलीसे लेकर निधू बाबू (रामनिधि गुप्त) के गीत तक सभीके अधीन रहकर उसने अपने माधुर्य-विकाशकी चेष्टा की है। किन्तु हमारे देशमें स्त्री जैसे पतिकी अधीनता स्वीकार करके ही पतिपर कर्तृत्व कर सकती है, इस प्रदेशके गीत भी वैसे ही वाक्योंका अनुगमन करनेका भार लेकर वाक्यसे आगे बढ़ जाते हैं। गीत लिखते समय इस बातका बार-बार अनुभव हुआ है। गुनगुनाते हुए जब भी कोई पंक्ति लिखी है,- 'मनकी छिपी हुई बातोंको, सखि, छिपा न रखना मनमें'- तभी देखा कि सुर वाक्यको जिस जगह उड़ाकर ले गया, 'वाक्य' खुद पैदल

भटककर उस जगह पहुंच ही नहीं सकता था। तब ऐसा लगने लगा कि मैं मनमें छिपी जिस बातको सुननेके लिए रागोंको इतना मना रहा हूं, मानो वह वनश्रेणीकी श्यामलिमामें खिला गई है, मानो वह पूर्णिमा-रात्रिकी निस्तब्ध शुभ्रतामें डूबी हुई है, मानो उसे दिगन्तरालकी नीलाभ सुदूरताने अपने घूघटमें छिपा लिया है, मानो वह सम्पूर्ण जल-स्थल-आकाशकी निगूढ़ गुप्त बात हो। बचपनमें एक गीत सुना था, "तोमाय विदेशिनी साजिये के दिले !" (तुम्हें परदेसिन किसने दिया सजा !) उस गीतके इस एक पदने मनमें ऐसा एक सुन्दर चित्र अंकित कर दिया था कि आज भी यह गीत मेरे मनमें गुंजन करता फिरता है। एक दिन उस गीतके इस पदके मोहमें मैं भी एक गीत लिखने बैठा था। स्वर-गुंजनके साथ पहला पद लिखा था, "आमि चिनि गो चिनि तोमारे, ओगो विदेशिनी" (मैं जानता हूं, जानता हू तुम्हें, ओ विदेशिनी) — साथमें अगर सुर न होता तो यह गीत कैसा बन पड़ता, मैं नहीं कह सकता। किन्तु उस सुरके मंत्रके गुणसे विदेशिनीकी एक अपूर्व सुन्दर मूर्ति जाग उठी ; और मेरा मन कहने लगा, हमारे इस जगतमें कोई एक विदेशिनी आया-जाया करती है, न-जाने किस रहस्य-सिन्धुके उस पार घाटके किनारे उसका घर है, उसीको शारद-प्रभातमें माधवी-रातमें क्षण-क्षणमें देखा करता हू ; हृदयके भीतर भी कभी-कभी उसका आभास पाया है, आकाशमें कान बिछाये हैं तो कभी-कभी उसका कंठस्वर भी सुना है। मेरे गीतके सुरने मुझे उस विश्वब्रह्माण्डकी विश्वमोहिनी विदेशिनीके द्वारपर लाकर खड़ा कर दिया, और मैंने कहा—

भुवन भ्रमिया शेषे
एसेछि तोमारि देशे,
आमि अतिथि तोमारि द्वारे, ओगो विदेशिनी ![1]

इसके बहुत दिन बाद एक दिन बोलपुरकी सड़कमे कोई गाता हुआ जा रहा था :—

१ शब्दार्थ —भुवन भ्रमण कर आखिर आया हू तुम्हारे देशमें,
मैं हू अतिथि तुम्हारे द्वारपर, ओ विदेशिनी !

खाँचार माझे अचिन पाखि कमूने आसे जाय,
धरते पारले मनोबेड़ि दितेम पाखिर पाय।[१]

खा कि बाउलका (वैरागी) गीत भी वही एक ही बात कर रहा है। बीच-बीच में बन्द पिंजड़ेमें आकर अनजान पंछी बन्धनहीन अपरिचितकी बात कह जाता है, मन उसे चिरन्तन बनाकर पकड़ रखना चाहता है किन्तु पकड़ नहीं पाता। इस अनजान पंछीके चुपके-चुपके आने-जानेकी खबर गानके सुरके सिवा और कौन दे सकता है!

यही कारण है कि हमेशासे मुझे गीतोंकी पुस्तक छपानेमें संकोच होता रहा है। क्योंकि गीतोंकी पुस्तकमें असल चीज ही छूट जाती है। संगीतको अलग रखकर संगीतके वाहनोंको सजाये रखना वैसा ही है जैसा गणपतिको छोड़कर उनके मूषिकको पकड़ रखना।

गंगा-किनारे

विलायत-यात्राके आरम्भ-पथसे जब मैं वापस लौटा तब ज्योति-दादा चन्दन-नगरमें गंगा-किनारे बगीचेमें रह रहे थे,— मैंने उन्हींके पास जाकर आश्रय लिया। फिर वही गंगा! वही आलस्य और आनन्दसे अनिर्वचनीय, विषाद और व्याकुलता से विजड़ित, स्निग्ध श्यामल नदी-तटकी कलध्वनिसे करुण दिन और रातें! यही मेरा स्थान है, यही मेरे लिए माताके हाथसे अन्न-परिवेषण हुआ करता है। अपने देशका यह आकाश-पूर्ण प्रकाश, दक्षिणकी यह हवा, गंगाका यह प्रवाह, यह राजकीय आलस्य, और, आकाशकी नीलिमा और पृथिवीकी हरियालीके बीचके दिगन्त-प्रसारित उदार अवकाशमें सम्पूर्ण शरीर और मनका यह मुक्त आत्म-समर्पण— तृषाके लिए जल और क्षुधाके लिए भोजनके समान ही, मेरे लिए अत्यावश्यक था। पहले जब यहाँ आया था, वह बहुत ज्यादा दिनकी बात नहीं; फिर भी इस

---

१ शब्दार्थ:—पिंजड़ेमें अनजान पंछी कैसे आता-जाता है,
पकड़ सकता (तो) मनकी बेड़ी पहना देता पंछीके पाँवोंमें।

बीचमें समयका बहुत परिवर्तन हो गया है। हमारे तरुच्छाया-प्रच्छन्न गंगातटके निभृत नीड़में कारखाना ऊर्ध्वफण सर्पकी तरह प्रवेश करके काली साँसें छोड़ता हुआ फुसकार रहा है। अब प्रखर मध्याह्नमें हमारे मनमें भी अपने देशकी प्रशस्त स्निग्ध छाया संकीर्णतम होती आ रही है। अब देश में सर्वत्र ही अनवसर अपनी सहस्र भुजाएँ पसारे घुस पड़ा है। हो सकता है कि यह अच्छा ही हो,— किन्तु यह निरवच्छिन्न अच्छा ही है, ऐसा भी दावेके साथ नहीं कह सकता।

मेरे गंगा-तटके वे सुन्दर दिन गंगाके जलमें उत्सर्ग किये-हुए पूर्ण-विकास पद्मपुष्पकी भाँति एक-एक करके बहे जाने लगे। कभी तो हम घन-घोर वर्षाके दिन हारमोनियमपर विद्यापतिके 'भरे बादर माह भादर' पदमें मन-चाहा सुर बिठाकर वर्षाकी रागिनी गाते-हुए वर्षण-मुखरित जलधाराच्छन्न मध्याह्न पागलकी तरह बिता देते; और कभी सूर्यास्तके समय सब मिलकर नावपर निकल जाते। ज्योति-दादा बेहला बजाते और मैं गाता रहता। पुरबी रागसे आरम्भ करके जब बिहाग तक पहुँचते तब पश्चिम-तटके आकाशमें सोनेके खिलौनोंका कारखाना अपनेको बिलकुल दिवालिया बना देता और पूर्व-वनान्तसे चाँद निकल आता। हमलोग जब बगीचेके घाटपर वापस आकर नदीके किनारेवाली छतपर बिस्तर बिछाकर बैठते तब जल-स्थलमें शुभ्र शान्ति छा जाती, नदीमें प्रायः नाव दिखाई नहीं देती, उस पारकी वन-रेखा घनी निविड़ दिखाई देने लगती और नदीके तरंगहीन प्रवाह पर चाँदनी झिलमिलाती रहती।

हमलोग जिस बगीचेमें थे वह 'मोरन साहबका बगीचा'के नामसे प्रसिद्ध था। घाटकी सीढ़ियाँ गंगासे निकलकर संगमरमरके एक प्रशस्त सुदीर्घ बरंडेसे जा मिलती थीं। और वह बरंडा ही मकानका बरंडा था। कमरे उसके समतल नहीं थे, । कोई कमरा ऊँचा था तो कोई नीचा, किसी-किसी कमरेमें तो दो-चार पैड़ी उतरकर घुसना पड़ता था। सब कमरे समरेखामें भी नहीं थे। घाटके ऊपर ही बैठकका कमरा था और उसकी खिड़कियोंमें रंगीन तसवीरोंवाले काँच लगे हुए थे। उनके एक चित्रमें था, निविड़ पल्लव-वेष्टित वृक्षकी शाखापर झूला है और उसमें धूप-छाया-खचित निभृत निकुंजमें युगल-जोड़ी झूल रही है। और-एक चित्रमें था, किसी दुर्ग-प्रासादकी सीढ़ियोंपरसे उत्सव-वेशमें सज्जित नर-नारियोंका

समूह चढ़ और उतर रहा है। इन दो चित्रोंने उस गंगा-तटके आकाशको मानो छुट्टीके सुरसे भर रखा था। मालूम नहीं किस दूर-देशका, किस दूर-कालका उत्सव अपनी शब्दहीन वार्ताको उजालेमें झिलमिलाकर रख दिया करता; और न-जाने कहांकी कौनसी चिर-निभृत छायामें युगल-दोलनका रस-माधुर्य नदी-तटकी वनश्रेणीमें एक अपरिस्फुट कहानीकी वेदनाका संचार करता रहता! मकानके सर्वोच्च मंजिलपर चारों तरफसे खुला एक गोल कमरा था। वहां मैंने अपने लिए कविता लिखनेका स्थान कर लिया था। वहां बैठनेसे घने वृक्षोंकी चोटियां और खुले आकाशके सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं देता था। तब मेरा 'संध्या-संगीत' का दौर चालू था; और इस गोल-घरको लक्ष्य करके ही मैंने लिखा था—

अनन्त ए आकाशेर कोले
टलमल मेघेर माझार—
एइखाने बाँधियाछि घर
तोर तरे, कविता आमार![1]

इसके बादसे काव्य-समालोचकोंमें मेरे सम्बन्धमें एक आवाज उठी कि मैं टूटे-टूटे छन्द और आधी-आधी भाषाका कवि हूं। सब कुछ मेरा धुआं-धुआं-सा छाया-छाया-सा होता है। बात मेरे लिए उस समय कितनी ही अप्रिय क्यों न हो, किन्तु वे बुनियाद नहीं थी॥ वस्तुतः उन कविताओंमें वास्तव-संसारकी दृढ़ता कुछ भी नहीं थी। बचपनसे ही बाहरके लोक-संस्रवसे बहुत दूर चहारदीवारीके घेरेमें जिस तरह मैं पनपा था उससे लिखनेकी पूंजी मुझे मिल ही कैसे सकती थी! परन्तु एक बात मैं नहीं मान सकता; वह यह कि वे मेरी कविताको जब धुंधली बताते थे तो उसके साथ ही इस चुटकीको भी व्यक्त या अव्यक्त-रूपमें शामिल कर देते थे कि 'यह एक फैशन है। जिसकी अपनी दृष्टि बहुत अच्छी होती है वह व्यक्ति किसी युवकको चश्मा पहने हुए देखता है तो बहुधा नाराज होता है और समझता है कि चश्मा उसने शौकसे गहनेके रूपमें लगा रखा है। यह अपवाद

---

१ शब्दार्थः— अनन्त इस आकाशकी गोदमें, टलमलाते बादलोंमें।
यहीं बाँधा है नीड़ (घर) तेरे तईं, कविता मेरी!

बीचमें समयका बहुत परिवर्तन हो गया है। हमारे तरुच्छाया-प्रच्छन्न गंगातटके निभृत नीड़में कारखाना ऊर्ध्वफण सर्पकी तरह प्रवेश करके काली साँसें छोड़ता हुआ फुसकार रहा है। अब प्रखर मध्याह्नमें हमारे मनमें भी अपने देशकी प्रशस्त स्निग्ध छाया संकीर्णतम होती आ रही है। अब देश में सर्वत्र ही अनवसर अपनी सहस्र भुजाएँ पसारे घुस पड़ा है। हो सकता है कि यह अच्छा ही हो,— किन्तु यह निरवच्छिन्न अच्छा ही है, ऐसा भी दावेके साथ नहीं कह सकता।

मेरे गंगा-तटके वे सुन्दर दिन गंगाके जलमें उत्सर्ग किये-हुए पूर्ण-विकास पद्मपुष्पकी भाँति एक-एक करके बहे जाने लगे। कभी तो हम घन-घोर वर्षाके दिन हारमोनियमपर विद्यापतिके 'भरे बादर माह भादर' पदमें मन-चाहा सुर बिठाकर वर्षाकी रागिनी गाते-हुए वर्षण-मुखरित जलधाराच्छन्न मध्याह्न पागलकी तरह बिता देते; और कभी सूर्यास्तके समय सब मिलकर नावपर निकल जाते। ज्योतिःदादा बेहला बजाते और मैं गाता रहता। पुरवी रागसे आरम्भ करके जब विहाग तक पहुँचते तब पश्चिम-तटके आकाशमें सोनेके खिलौनोंका कारखाना अपनेको बिलकुल दिवालिया बना देता और पूर्व-वनान्तसे चाँद निकल आता। हमलोग जब बगीचेके घाटपर वापस आकर नदीके किनारेवाली छतपर बिस्तर बिछाकर बैठते तब जल-स्थलमें शुभ्र शान्ति छा जाती, नदीमें प्रायः नाव दिखाई नहीं देती, उस पारकी वन-रेखा घनी निविड़ दिखाई देने लगती और नदीके तरंगहीन प्रवाह पर चाँदनी झिलमिलाती रहती।

हमलोग जिस बगीचेमें थे वह 'मोरन साहबका बगीचा'के नामसे प्रसिद्ध था। घाटकी सीढ़ियाँ गंगासे निकलकर संगमरमरके एक प्रशस्त सुदीर्घ बरडेसे जा मिलती थीं। और वह बरडा ही मकानका बरडा था। कमरे उसके समतल नहीं थे। कोई कमरा ऊँचा था तो कोई नीचा, किसी-किसी कमरेमें तो दो-चार पैड़ी उतरकर घुसना पड़ता था। सब कमरे समरेखामें भी नहीं थे। घाटके ऊपर ही बैठकका कमरा था और उसकी खिड़कियोंमें रंगीन तसवीरोंवाले काँच लगे हुए थे। उसके एक चित्रमें था, निविड़ पल्लव-वेष्टित वृक्षकी शाखापर झूला है और उसमें धूप-छाया-खचित निभृत निकुंजमें युगल-जोड़ी झूल रही है। और-एक चित्रमें था, किसी दुर्ग-प्रासादकी सीढ़ियोंपरसे उत्सव-वेशमें सज्जित नर-नारियोंका

समूह चढ़ और उतर रहा है। इन दो चित्रोंने उस गंगा-तटके आकाशको मानो छुट्टीके सुरसे भर रखा था। मालूम नहीं किस दूर-देशका, किस दूर-कालका उत्सव अपनी शब्दहीन वार्त्ताको उजालेमें झिलमिलाकर रख दिया करता ; और न-जाने कहाँकी कौनसी चिर-निभृत छायामें युगल-दोलनका रस-माधुर्य नदी-तटकी वनश्रेणीमें एक अपरिस्फुट कहानीकी वेदनाका सचार करता रहता ! मकानके सर्वोच्च मंजिलपर चारों तरफसे खुला एक गोल कमरा था। वहाँ मैंने अपने लिए कविता लिखनेका स्थान कर लिया था। वहाँ बैठनेसे घने वृक्षोंकी चोटियाँ और खुले आकाशके सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं देता था। तब मेरा 'संध्या-संगीत' का दौर चालू था ; और इस गोल-घरको लक्ष्य करके ही मैंने लिखा था—

अनन्त ए आकाशेर कोले
टलमल मेघेर माझार—
एइखाने बाँधियाछि घर
तोर तरे, कविता आमार ![1]

इसके बादसे काव्य-समालोचकोंमें मेरे सम्बन्धमें एक आवाज उठी कि मैं टूटे-टूटे छन्द और आधी-आधी भाषाका कवि हूँ। सब कुछ मेरा धुआँ-धुआँ-सा छाया-छाया-सा होता है। बात मेरे लिए उस समय कितनी ही अप्रिय क्यों न हो, किन्तु वेबुनियाद नहीं थी॥ वस्तुतः उन कविताओंमें वास्तव-संसारकी दृढ़ता कुछ भी नहीं थी। बचपनसे ही बाहरके लोक-संसवसे बहुत दूर चहारदीवारीके घेरेमें जिस तरह मैं पनपा था उससे लिखनेकी पूँजी मुझे मिल ही कैसे सकती थी! परन्तु एक बात मैं नहीं मान सकता ; वह यह कि वे मेरी कविताको जब धुंधली बताते थे तो उसके साथ ही इस चुटकीको भी व्यक्त या अव्यक्त-रूपमें शामिल कर देते थे कि 'यह एक फैशन है। जिसकी अपनी दृष्टि बहुत अच्छी होती है वह व्यक्ति किसी युवकको चश्मा पहने हुए देखता है तो बहुधा नाराज होता है और समझता है कि चश्मा उसने शौकसे गहनेके रूपमें लगा रखा है। यह अपवाद

[1] शब्दार्थ—अनन्त इस आकाशकी गोदमें, टलमलाते बादलोंमें।
यहीं बाँधा है नीड़ (घर) तेरे तई, कविता मेरी !

तो सह लिया जा सकता है कि 'उसे आँखोंसे कम दिखाई देता है', किन्तु यह कहना कि 'वह कम दिखाई देनेका ढोंग करता है', जरा-कुछ ज्यादती हो जाती है।

जैसे भोतरिसाको 'सृष्टिसे न्यारी' नहीं कहा जा सकता, कारण वह सृष्टिकी एक विशेष अवस्थाका सत्य है, वैसे ही काव्यकी अस्फुटताको धाँसाधड़ी कहकर उड़ा देना काव्य-साहित्यके एक सत्यका ही अपलाप करना है। मनुष्यमें अवस्था-विशेषमें एक आवेग आता है जो अव्यक्त वेदना है, अपरिस्फुटताकी व्याकुलता है। मनुष्य-प्रकृतिमें यह सत्य है, इसलिए उसके प्रकाशको मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? 'ऐसी कविताका मूल्य नहीं' कहना भी ठीक नहीं। मगर हाँ, 'मूल्य नहीं' कहकर तर्क किया जा सकता है। किन्तु 'कतई मूल्य नहीं' कहना क्या अत्युक्ति नहीं है? कारण, काव्यमेंसे मनुष्य अपने हृदयको भाषामें प्रकट करनेकी चेष्टा करता है; उस हृदयकी किसी भी अवस्थाका कोई भी परिचय यदि किसी भी रचनामें व्यक्त हो, तो मनुष्य उसे बटोरकर रख देता है,— व्यक्त यदि न हो तभी उसे वह फेंक दिया करता है। अतएव हृदयके अव्यक्त आवेगको व्यक्त करनेमें पाप नहीं,— जितना अपराध उसे व्यक्त न कर सकनेकी दिशामें है। मनुष्यमें एक 'द्वैत' है। बाहरकी घटनावलियों और बाहरी जीवनकी सम्पूर्ण चिन्ताधारा और आवेगके गभीर अन्तरालमें जो आदमी बैठा हुआ है, उसे हम अच्छी तरह पहचानते नहीं और भूले रहते हैं, किन्तु जीवनके भीतर उसकी सत्ताका तो हम लोप नहीं कर सकते। बाहरके साथ उसके अन्तरका सुर जब नहीं मिलता दोनोंका सामंजस्य जब सुन्दर और सम्पूर्ण नहीं हो पाता, तब उस अन्तर-निवासीकी पीड़ाकी वेदनामें मानस-प्रकृति व्यथित होती रहती है। इस वेदनाको कोई खास नाम नहीं दे सकता, न इसकी वर्णना ही कर सकता हू; इसीलिए इसकी जो रोनेकी भाषा है वह स्पष्ट भाषा नहीं, उसमें अर्थबद्ध शब्दोंकी अपेक्षा अर्थहीन सुरका अश ही अधिक है। 'सध्या-सगीत'में जिस विषाद और वेदनाने व्यक्त होना चाहा है उसका मूल सत्य उसी अन्तरके रहस्यमें निहित है। असलमें, सम्पूर्ण जीवनका जहाँ एक मेल है वहाँ जीवन किसी भी तरह पहुच नहीं पा रहा था। निद्रामें अभिभूत चैतन्य जैसे दु.स्वप्नके साथ लड़ाई करके किसी कदर जाग उठना चाहता है, ठीक वैसे ही भीतरकी सत्ता बाहरकी समस्त जटिलताओंको मिटाकर अपना उद्धार करनेके लिए

युद्ध करती रहती है। और, अन्तरके इस गभीरतम अलक्ष्य प्रदेशके युद्धका इतिहास ही अस्पष्ट भाषामें 'संध्या-संगीत'में प्रकाशित हुआ है। सभी सृष्टियोंमें जैसे दो शक्तियोंकी लीला है, काव्य-सृष्टिमें भी ठीक वैसी ही है। जहाँ असामंजस्य हदसे ज्यादा है, अथवा सामंजस्य जहाँ सम्पूर्ण है, वहाँ कविता लिखना शायद हो ही नहीं सकता। जहाँ असामंजस्यकी वेदना ही प्रवल-रूपसे सामंजस्यको पाना और प्रकाश करना चाहती है, वहीं कविता बाँसुरीके अवरोधके भीतरसे, निश्वासकी तरह, राग-रागिनीमें उच्छ्वसित हो उठती है।

'संध्या-संगीत'का जन्म होनेपर सूतिकागृहमें ऊंचे स्वरसे शंख भले ही नवजा हो,– किन्तु इसके मानी यह नही कि किसीने उसे आदरके साथ ग्रहण न किया हो। मैंने अपने किसी निवन्धमें कहा है कि रमेशचन्द्र दत्त महाशयकी ज्येष्ठा कन्याके विवाह-मण्डपके द्वारके पास[1] वंकिम वावू[2] खड़े थे; रमेश बाबू बंकिम बाबूके गलेमें माला पहना ही रहे थे कि इतनेमें मैं वहाँ पहुच गया। वंकिम वावूने वड़ी तेजीसे उस मालाको मेरे गलेमें डालते हुए कहा, "यह माला इन्हीके गलेमें पड़नी चाहिए। रमेश, तुमने 'संध्या-संगीत' पढा है?" उन्होंने कहा, "नही तो।" तब बकिम वावूने 'सध्या-सगीत'की किसी कविताके विषयमें अपना जो मत व्यक्त किया उससे मैं पुरस्कृत हुआ था।

प्रियनाथ सेन

इस 'संध्या-संगीत'की रचनाके द्वारा ही मैंने एक ऐसे मित्रको पाया था जिनके उत्साहने अनुकूल आलोककी तरह मेरी कविता-रचनाकी विकास-चेष्टामें प्राण संचार कर दिया था। वे थे प्रियनाथ सेन। इसके पहले 'भग्नहृदय' पढ़कर उन्होंने मेरी आशा ही छोड़ दी थी, किन्तु 'संध्या-संगीत'से मैंने उनके मनको जीत लिया। उनके साथ जिनका परिचय था वे जानते हैं कि साहित्यके सात समुद्रके नाविक थे वे। देशी और विदेशी प्रायः सभी भाषाके सभी साहित्यकी वड़ी सड़क और गलियोंमेंसे उनका सर्वदा आना-जाना वना रहता था। उनके पास वैठते ही भाव-

१ कलकत्ता, वीडन स्ट्रीटका २० नम्बर मकान। २ वंकिम चटर्जी।

राज्यके बहु-दूर-दिगन्तका दृश्य स्पष्ट दिखाई देने लगता था। और यह बात मेरे बड़े काम आई। साहित्यके विषयमें पूरे साहसके साथ वे आलोचना कर सकते थे। उनको अच्छा लगना या बुरा लगना सिर्फ उनकी व्यक्तिगत रुचिकी बात नहीं थी। एक ओर विश्व-साहित्यके रस-भण्डारमें प्रवेश और दूसरी ओर अपनी शक्तिपर निर्भरता और विश्वास — इन दोनों विषयोंमें उनके बन्धुत्वने मेरे यौवनके आरम्भ-कालमें ही कितना उपकार किया था उसे कहकर पूरा नहीं किया जा सकता। उस समयमें मैंने जितनी भी कविताएँ लिखी हैं, सब उन्हें सुनाई हैं; और उनके आनन्दसे ही उन कविताओंका अभिषेक हुआ है। यह सुयोग यदि न मिलता तो उस प्रथम-अवस्थाकी खेत-आबादीमें वर्षा ही न उतरती, और उसके बाद काव्यकी फसल कैसी होती, कहना कठिन है।

प्रभात-संगीत

गंगाके किनारे बैठकर, 'सन्ध्या-संगीत'के सिवा, मैं कुछ-कुछ गद्य भी लिखा करता था। कोई बँधा-हुआ विषय नहीं होता, यों ही जो जीमें आता लिखता रहता। बच्चे जैसे खेल-खेलमें पतंगे पकड़ा करते हैं, यह भी वैसा ही था। मनके राज्यमें वसन्त आता है तो वहाँ छोटी-छोटी अल्पायु रंगीन भावनाएँ उड़ती फिरती हैं, उनपर कोई ध्यान भी नहीं देता। अवकाशके दिनोंमें उन्हींको पकड़ रखनेकी धुन चढ़ आई थी। असल बात यह है कि तब उस धुनमें मस्त था, और मन छाती फुलाकर कह रहा था कि मेरी तबीयतमें आयेगा सो लिखूँगा। क्या लिखूँगा, इसका कोई निश्चय नहीं था, किन्तु मैं ही लिखूँगा, यही उसकी एकमात्र उत्तेजना थी। वे छोटे-छोटे गद्य-लेख 'विविध-प्रसंग' के नामसे पुस्तकाकारमें प्रकाशित हुए थे; और प्रथम संस्करणके अन्तमें उन्हें समाधिस्थ कर दिया गया था, द्वितीय संस्करणमें फिर उन्हें नये जीवनका पट्टा नहीं दिया गया।

सम्भवतः 'बहू-रानीकी हाट' उपन्यास इसी समय (सं० १९३८-३९) लिखना शुरू किया था।

इस तरह गंगा-किनारे कुछ समय बीत जानेके बाद ज्योति-दादा कुछ दिनके लिए चौरंगीके जादूघरके पास दस नम्बर सदर स्ट्रीटमें रहने लगे। मैं भी उनके

माथ था। वहां भी कभी 'बहू-रानीके हाट' और कभी 'संध्या-संगीत'की कविताएँ लिख रहा था कि इतनेमें सहसा मेरे मनमें एक जबरदस्त उलट-फेर हो गया।

एक दिन जोड़ासांको-वाले अपने मकानकी छतपर शामको घूम रहा था। दिवावसानकी म्लानिमापर सूर्यास्तकी आभाने ऐसा खेल खेला कि उस दिनकी आसन्न संध्या मेरे आगे विशेष-रूपसे मनोहर होकर प्रकट हुई। आसपासके मकानों की दीवारें तक मेरे लिए सुन्दर हो उठीं। मैं मन-ही-मन सोचने लगा, परिचित जगतपरसे यह जो तुच्छताका आवरण बिलकुल ही उठ गया, यह क्या केवल सायंकाल के आलोक-सम्पातका एक जादू मात्र था? कदापि नहीं। मुझे स्पष्ट दिखाई दिया, इसका असल कारण यह है कि संध्या मेरे ही अन्दर आ समाई है, मैं ही उससे ढक गया हूं। दिनके उजालेमें खुद मैं ही जब अत्यन्त उग्र हो रहा था तब जो भी कुछ मैं देख-सुन रहा था, उस सबको मैं ही तो वेष्टित करके आवृत किये हुए था। अब मेरा वह 'मैं' वहांसे हट आया है, इसीलिए जगतको मैं उसके निजी स्वरूपमें देख रहा हूं। वह स्वरूप कदापि तुच्छ नहीं,—वह आनन्दमय है, सुन्दर है।

तबसे कभी-कभी मैं इच्छापूर्वक अपनेको मानो अलग हटाकर जगतको दर्शक की भांति देखनेकी चेष्टा किया करता, और तब मन अत्यन्त प्रसन्न हो उठता। मुझे याद है, एक दिन घरके किसी आत्मीयको मैंने यह बात समझानेकी चेष्टा की थी कि 'जगतको कैसे देखनेसे वह ठीक-ठीक दिखाई देता है और साथ ही अपना भार भी लाघव किया जा सकता है', किन्तु इसमें मुझे रत्तमात्र भी सफलता नहीं मिली थी। ठीक इसी समय अपने जीवनमें मुझे एक अनुभव प्राप्त हुआ, जिसे मैं आज तक नहीं भूल सका।

सदर स्ट्रीट जहां आकर खतम हुई है वहां शायद फ्री-स्कूलके बगीचेके पेड़ दिखाई देते थे। एक दिन प्रभातमें बरंडेमें खड़ा-खड़ा मैं उधर देखने लगा। उस समय उन वृक्षोंके शाखा-पल्लवान्तरालसे सूर्योदय हो रहा था। देखते-देखते सहसा एक क्षणमें मेरी दृष्टिके ऊपरसे मानो एक परदा-सा हट गया। मैंने देखा कि किसी एक अपूर्व सुन्दर महिमासे विश्व-संसार समाच्छन्न हो रहा है, आनन्द और सौन्दर्यसे जल-स्थल-आकाश सर्वत्र ही तरंगित हो रहा है। मेरे हृदयके स्तर-स्तरमें विषादका जो आच्छादन था उसे निमेष-मात्रमें भेदकर मेरे सम्पूर्ण अन्तरमें विश्वका

आलोक एकाएक विच्छुरित हो उठा। उसी दिन "निर्झरका स्वप्न-भंग" कविता[1] मानो निर्झरकी तरह ही उत्सारित होकर बह चली। मेरा लिखना समाप्त हो गया, किन्तु जगतके उस आनन्द-रूपपर यवनिका तब भी नहीं पड़ी। उसी दिन या उसके दूसरे दिन एक घटना हो गई, उससे मैं स्वयं ही आश्चर्यमें पड़ गया। एक आदमी था जो कभी-कभी आकर मुझसे पूछा करता था, "अच्छा, महाशय, आपने क्या ईश्वरको कभी अपनी आँखोंसे देखा है?" मुझे स्वीकार करना ही पड़ता कि 'नहीं देखा'; और तब वह कहता, "मैंने देखा है।" मैं उससे पूछता कि 'कैसा देखा', तो वह जवाब देता, "आँखोंके आगे किलबिलाते रहते हैं।" ऐसे आदमीसे तत्त्वालोचना करनेमें समय बिताना हमेशा प्रीतिकर नहीं होता। खास कर तब मैं लिखनेकी धुनमें रहा करता था। किन्तु आदमी वह भलामानस था, इसलिए उसे बाधा नहीं दे सकता था, सब-कुछ सह लिया करता था।

अबकी बार, दोपहरके वक्त जब वह आया तो मैंने सम्पूर्ण आनन्दित होकर उससे कहा, "आओ, आओ।" वह निर्बोध और विचित्र ढंगका आदमी था, किन्तु आज मेरी दृष्टिमें मानो उसका वह बहिरावरण खुल गया। जिसे देखकर मैं खुश हुआ और जिसकी मैंने अभ्यर्थना की वह उसके भीतरका आदमी है, मेरे साथ उसका कोई भेद नहीं, आत्मीयता है। जब उसे देखकर मुझे कोई पीड़ा नहीं हुई और ऐसा नहीं लगा कि मेरा समय नष्ट होगा, तब मुझे बड़ा-भारी आनन्द हुआ, ऐसा लगा कि मेरा यह एक झूठा जाल टूट गया, इतने दिनों तक इस विषयमें मैंने जो अपनेको बार-बार कष्ट दिया है वह अलीक और अनावश्यक था।

मैं बरडेमें खड़ा रहता, रास्तेसे मुटिया-मजदूर जो भी कोई जाता-आता उसकी गति-भंगी शरीर-गठन और चेहरे सभी मुझे बड़ा आश्चर्यजनक मालूम होता, सभी मानो निखिल-समुद्रके ऊपरसे तरंग-लीलाके समान बहते जा रहे हैं। शिशुकालसे सिर्फ आँखोंसे देखनेका ही आदी बन गया था, आजसे मानो अपने सम्पूर्ण चैतन्यसे देखना आरम्भ कर दिया। रास्तेसे जब एक युवक दूसरेके कंधेपर हाथ रखे हँसता हुआ अत्यन्त सहज-भावसे चला जाता तो उसे मैं सामान्य घटना न समझता, उसमें मानो मैं यही दिखा करता कि विश्व-जगतकी अतलस्पर्श गभीरतामें कभी

१ यह कविता रवीन्द्र-साहित्य, भाग ८ में प्रकाशित हुई है।

न-निवटनेवाले रसका उत्स मानो चारों तरफ हँसीका झरना बहाता चला जा रहा हो।

मामूली कोई काम करते समय मनुष्यके अंग-प्रत्यंगोंमें जो गति-वैचित्र्य प्रकट होता रहता है उसपर पहले कभी मेरा ध्यान नही गया ; किन्तु अब क्षण-क्षणमें समस्त मानव-देहोंके चलनके संगीतने मुझे मुग्ध कर दिया। इन-सबको मै अलग-अलग करके न देखता, सबको एक समदृष्टिमें देखा करता था। एक ही समयमें पृथ्वीमें सर्वत्र ही नाना लोकालयोमें, नाना कार्योमें, नाना आवश्यकताओंमें करोडो मानव चंचल हो रहे है — इस धरणी-व्यापी समग्र मानवके देह-चांचल्यको सुविशाल-रूपमें एकत्र करके देखनेमें मुझे एक महासौन्दर्य-नृत्यका आभास मिलता। मित्रके साथ मित्र हँस रहा है, बच्चेको लेकर मा लाड़-प्यार कर रही है, एक गाय और-एक गायके पास खड़ी हुई अपने बछड़ेकी देह चाट रही है — इनमें जो एक अन्तहीन अपरिमेयता है वही मेरे मनको विस्मयके आघातसे मानो वेदना देने लगी। इसी समय मैंने जो लिखा था'—

हृदय आजि मोर कैमोने गैलो खुलि,
जगत् आसि सेथा करिछे कोलाकुलि।[1]

यह कवि-कल्पनाकी अत्युक्ति नही है। वास्तवमें, जो अनुभव किया था उसे प्रकट करनेकी शक्ति मुझमे नही थी।

कुछ समय तक मेरी ऐसी ही आत्म-विस्मृत आनन्दकी अवस्था रही। इतने में ज्योति-दादाने तय किया कि वे दारजिलिंग जायेंगे। मैने सोचा, मेरे लिए यह अच्छा ही हुआ ; सदर स्ट्रीटमे शहरकी भीड़मे जो-कुछ देखा है, हिमालयके उदार शैल-शिखरपर उसीको और-भी अच्छी तरह गभीरताके साथ देख सकूगा। कमसे कम इस दृष्टिसे हिमालय अपनेको किस रूपमें प्रकट करता है सो मालूम हो जायगा।

किन्तु सदर स्ट्रीटके उस छोटे-से मकानकी ही जीत हुई। हिमालयके ऊपर जाकर जब चारो तरफ दृष्टि दौडाई तो अकस्मात् देखा कि अब वह दृष्टि ही नहीं

---

१ भावार्थ :— हृदय आज मेरा कैसे तो गया खुल,
जगत् आकर वहाँ कर रहा आलिंगन।

रहा। ऐसा सोचना ही कि बाहरसे कुछ अलग चीज मिलेगी, शायद मेरा अपराध था। नगाधिराज चाहे कितने ही बड़े अभ्रभेदी क्यों न हों, मुझे वे कुछ भी हाथमें उठाकर न दे सके, और मजा यह कि जो देनेवाला है उसने कलकत्ताकी एक गलीमें ही क्षण-भरमें विश्व-संसार दिखा दिया।

मैं देवदारु-वनमें घूमा, झरनाके किनारे बैठा रहा, उसके जलमें नहाया, काञ्चन-शृङ्गाकी मेघमुक्त महिमाकी ओर देखता रहा,— किन्तु जहाँ पाना मैंने सहजसाध्य समझा था वहीं कुछ भी न पा सका। परिचय मिला, किन्तु फिर दर्शन नहीं मिला। रत्न देख रहा था, सहसा वह बन्द हो गया, और अब डिब्बा देख रहा हूँ। किन्तु डिब्बेके ऊपरकी दस्तकारी चाहे कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उसे अब मैं सिर्फ सूना डिब्बा नहीं समझ सकता था।

'प्रभात-संगीत'का गान रुक गया। सिर्फ उसकी दूरकी प्रतिध्वनि-स्वरूप 'प्रतिध्वनि' नामकी कविता दार्जिलिंगमें लिखी थी। और वह ऐसी एक अबोध्य चीज बन गई थी कि एक दिन दो मित्रोंने शर्त रखकर उसके अर्थ-निर्णयका बीड़ा उठाया था। हताश होकर उनमेंसे एक मेरे पास गुप्त-रूपसे अर्थ जाननेके लिए आया था। मेरी सहायतासे वह बेचारा होड़ जीत सका हो ऐसा तो नहीं मालूम हुआ। इसमें सन्तोषकी बात इतनी ही थी कि दोनोंमेंसे किसीको भी हारके रुपये नहीं देने पड़े। अफसोस कि जिन दिनों कमल और वर्षाके सरोवरपर कविताएँ लिखी थीं, अत्यन्त स्पष्ट रचनाके वे दिन न-जाने कहाँ कितनी दूर चले गये!

किसी चीजको समझानेके लिए तो कोई कविता नहीं लिखता। असलमें हृदयकी अनुभूति कविताओंमेंसे आकार धारण करनेकी चेष्टा करती है। इसलिए कविता सुनकर जब कोई कहता है कि 'समझमें नहीं आया', तो बड़ी मुसीबतमें पड़ना पड़ता है। कोई अगर फूलकी सुगन्ध सूंघकर कहे कि 'कुछ समझमें नहीं आया', तो उसे यही जवाब देना पड़ेगा कि 'इसमें समझनेकी कोई बात ही नहीं, यह तो केवल सुगन्ध है।' किन्तु फिर वह प्रश्न उठाता है, 'सो तो मालूम है, लेकिन आखिर खामखाह सुगन्ध भी क्यों, इसके मानी क्या?' या तो इसका जवाब देना बन्द करना पड़ता है, नहीं तो फिर जरा-कुछ पेचीली भाषामें कहना पड़ता है, 'प्रकृति के भीतरका आनन्द इसी तरह सुगन्ध होकर प्रकट होता है।' मगर मुसीबत यह

हैं कि आदमीको जिन शब्दोंसे कविता लिखनी पड़ती है उन शब्दोंके जो मानी हैं! इसीलिए तो कवियोंको छन्द आदि नाना उपायोंसे, बात कहनेकी स्वाभाविक पद्धतिको उलट-पुलटकर, अनेक कौशलोंसे काम लेना पड़ा है, जिससे शब्दोंके भाव बड़े होकर शब्दोंके अर्थको यथासम्भव ढक दे सकें। ये भाव तत्त्व भी नहीं, विज्ञान भी नहीं, किसी भी प्रकारकी कामकी चीज नहीं,—वह तो आँखोंके आँसू और मुंहकी हँसीके समान अन्तःकरणका चेहरा मात्र हैं। उसके साथ तत्त्वज्ञान, विज्ञान या और कोई बुद्धिसाध्य वस्तु मिला देना चाहो तो मिला दो, पर वह होगी गौण। पार उतारनेवाली नावपर नदी पार होते वक्त मछली पकड़ सकते हो तो वह तुम्हारी बहादुरी है, लेकिन वह नाव मछुएकी नाव नहीं कहला सकती।

'प्रतिध्वनि' कविता बहुत दिन पहलेकी लिखी हुई है, उसपर किसीकी नजर नहीं पड़ती, इसलिए उसके लिए किसीके आगे मुझे जवाबदेही नहीं करनी पड़ती। वह भली-बुरी चाहे जैसी भी हो, इतना मैं जोरके साथ कह सकता हूं कि वह जान-बूझकर पाठकोंको गोरखधन्धेमें डालनेके लिए नहीं लिखी गई, और न उसमें कोई गहरे तत्त्वकी बात धोखेसे सुना देनेका प्रयास ही किया गया है।

असल बात यह है कि हृदयमें जो एक व्याकुलता पैदा हुई थी उसने अपनेको प्रकट करना चाहा है। जिसके लिए व्याकुलता थी उसका और-कोई नाम ढूंढे न मिला तो उसे 'प्रतिध्वनि' कह दिया, और कहा :—

'ओगो प्रतिध्वनि,
बुझि आमि तोरे भालोबासी,
बुझि आर कारेओ बासि ना।'[1]

विश्वके केन्द्रस्थलमें न-जाने वह किस गीतकी प्रतिध्वनि जाग रही है, प्रिय मुखसे विश्वकी समग्र सुन्दर सामग्रियोंसे प्रतिघात पाकर जिसकी प्रतिध्वनि हमारे हृदयके भीतर आकर प्रवेश कर रही है। किसी वस्तुको नहीं किन्तु उस प्रतिध्वनिको ही शायद हम प्यार करते हैं, कारण यह देखा गया है कि आज जिसकी ओर आँख उठाकर देखा तक नहीं, कल उसी एक ही वस्तुने हमारे सम्पूर्ण मनको हर लिया है।

१ शब्दार्थ — ओ प्रतिध्वनि, शायद मैं तुझे प्यार करता हूं,
शायद और-किसीको भी नहीं करता।

अब तक जगतको केवल बाहरी दृष्टिसे देखना आता था, इसलिए उसका एक समग्र आनन्द-रूप नहीं देख पाया। एक दिन सहसा मेरे अन्तःकरणके मानो किसी गंभीर केन्द्रस्थलसे एक आलोक-रश्मि निकलकर जब समस्त विश्वपर फैल गई, तो उस जगतको मैं फिर केवल घटनापुंज या वस्तुपुंजके रूपमें न देख सका, उसे मैंने आद्यन्त परिपूर्ण रूपमें देखा। इसीमेंसे एक अनुभूति मेरे मनमें आई थी कि अन्तःकरणके किसी एक गभीरतम गुहामेंसे सुरोंकी धारा आकर देश-कालमें फैलती रहती है, और प्रतिध्वनिके रूपमें समस्त देश-कालसे प्रत्याहृत होकर फिर वहीं वह आनन्द-स्रोतमें लौटती रहती है। उस असीमकी ओर लौटते समय प्रतिध्वनि ही हमारे मनको सौन्दर्यसे व्याकुल कर देती है। गुणी गायक जब अपने परिपूर्ण हृदयके उत्ससे गान छोड़ते हैं तो उसमें एक आनन्द मिलता है, और जब उस गानकी धारा उन्हींके हृदयमें वापस लौटती है तो उसमें उन्हें दूना आनन्द मिलता है। विश्वकविका काव्य-गान जब आनन्दमय होकर उन्हींके चित्तमें लौट रहा हो, तब उसे हमारी चेतनाके ऊपरसे बह जाने दिया जाय तो हम जगतके परम परिणामको मानो अनिर्वचनीय-रूपमें जानने लगते हैं। जहाँ हमारी ऐसी उपलब्धि है वहीं हमारी प्रीति है। वहाँ हमारा भी मन उतावला होकर उस असीमकी ओर प्रवाहित आनन्द-स्रोतके प्रवाहके वेगमें अपनेको छोड़ देना चाहता है। सौन्दर्यकी व्याकुलताका यही तात्पर्य है। जो स्वर असीमसे निकलकर सीमाकी ओर आ रहा है वही सत्य है, वही मंगल है। वह नियममें बँधा है, आकारसे निर्दिष्ट है। उसी की जो प्रतिध्वनि सीमासे असीमकी ओर फिरसे वापस जा रही है वही सौन्दर्य है, वही आनन्द है। उसे पकड़ाई-छुआईमें लाना असम्भव है, इसीसे वह हमें इस तरह घरसे छुड़ा देता है।

'प्रतिध्वनि' कवितामें मेरे मनकी इसी अनुभूतिने रूप और गीतमें व्यक्त होनेकी चेष्टा की है। उस चेष्टाका फल स्पष्ट हो उठेगा— ऐसी आशा नहीं की जा सकती, कारण चेष्टा स्वयं ही अपनेको स्पष्टतासे नहीं जानती थी।

और भी कुछ ज्यादा उमरमें प्रभात-संगीतके सम्बन्धमें मैंने एक पत्र लिखा था, उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करता हूँ :—

"उमरकी एक विशेष अवस्था है जब मन गाता है, 'जगतमें और नहीं कोई,

है सभी हृदयमें मेरे।' हृदय जब पहले-पहल जगकर दोनों हाथ पसारता है तब समझता है कि मानो वह सम्पूर्ण जगतको चाहता है,— नवोद्गत-दन्त शिशु जैसे समझता है कि सम्पूर्ण विश्व-संसारको वह अपने मुहमें भर ले सकता है।

'फिर क्रमशः समझमें आने लगता है कि मन क्या चाहता है और क्या नहीं। तब हमारा वह परिव्याप्त हृदय-वाष्प संकीर्ण सीमाका अवलम्बन करके जलना और जलाना आरम्भ कर देता है। एकसाथ समस्त जगतका दावा कर बैठनेसे कुछ भी हाथ नहीं आता, किन्तु, अन्ततोगत्वा किसी एक विषयमें सम्पूर्ण हृदय-मनसे तल्लीन होनेसे ही असीममें प्रवेश करनेके सिंहद्वार तक पहुंचा जा सकता है। 'प्रभात-संगीत' मेरी अन्तरप्रकृतिका प्रथम बहिर्मुखी उच्छ्वास है, इसीलिए उसमें किसी प्रकारका श्रेणी-भेद नहीं है।"

प्रथम उच्छ्वासका एक साधारण-सा व्याप्त आनन्द क्रमशः हमें एक विशेष परिचयकी ओर बढ़ा ले जाता है, और तब पूर्वराग अनुरागमें परिणत हो जाता है। वस्तुतः, अनुराग पूर्वरागकी अपेक्षा संकीर्ण होता है। वह सब-कुछको एक ग्रासमें न लेकर क्रमशः खंड-खंडमें चाखता रहता है। प्रेम तब एकाग्र होकर अंश में ही समग्रको, सीमामें ही असीमका उपभोग कर सकता है। तब उसका चित्त प्रत्यक्ष विशेषमेंसे ही अप्रत्यक्ष अशेषमें अपनेको प्रसारित कर देता है। तब वह जो कुछ पाता है वह केवल अपने मनका अनिर्दिष्ट भावानन्द नहीं,— बाहरके साथ, प्रत्यक्षके साथ एकमेक होकर उसके हृदयका भाव सर्वाङ्गीण सत्य हो उठता है।

मोहितचन्द्र-सम्पादित ग्रन्थावलीमें 'प्रभात-संगीत'की कविताओंको 'निष्क्रमण' नाम दिया गया है। कारण, उनमें हृदयारण्यसे निकलकर बाहरके विश्वमें प्रथम आगमनकी वार्ता है। उसके बाद सुख-दुःख और आलोक-अन्धकारमें संसार-पथ के यात्री इस हृदयके साथ क्रमशः खंड-खंडमें नाना सुरों और नाना छन्दोंमें विचित्र रूपसे विश्वका मिलन हुआ है,— अन्तमें वह बहु-विचित्रके घाटोंसे गुजरता और परिचयकी धाराके साथ बहता-हुआ अवश्य ही किसी दिन फिर एक बार असीम व्याप्तिमें जा पहुंचेगा, किन्तु वह व्याप्ति अनिर्दिष्ट आनन्दकी व्याप्ति नहीं, परिपूर्ण सत्यकी परिव्याप्ति है।

बचपनसे ही विश्व-प्रकृतिके साथ मेरा अत्यन्त सहज और निविड़ योग था।

घरकी खिड़कीसे नारियलके पेड़ोंका प्रत्येक पेड़ मेरे आगे अत्यन्त सत्य होकर दिखाई देता था। एक दिन सार्कुलर रोडके कुछ दिन बाद घर लौटकर गाड़ीसे उतरते ही ऊपर आकर देखा कि घरके सामने पेड़ सब हरे-भरे हो रहे हैं, तो मन उसी क्षण अपने-आप निविड़ आनन्दसे आकुल हो गया,— उन क्षणोंको आज तक मैं नहीं भूल सका हूँ। सबेरे सोकर उठते ही समस्त पृथ्वीका जीवनोल्लास मेरे मनको अपने संगी-साथीके रूपमें बुला लिया करता था, मध्याह्नमें सम्पूर्ण आकाश और प्रहर मानो सुतीव्र होकर अपनी गंभीरतासे मुझे गृहत्यागी वैरागी-सा बना देता; और रातका अन्धकार जिस मायापथका गुप्त द्वार खोल देता वह मुझे सम्भव-असम्भवकी सीमा लाँघकर सात-समुद्र तेरह-नदी पार करके उपाख्यानके अपूर्व राज्यमें ले जाता। उसके बाद एक दिन जब यौवनके प्रथम उन्मेषमें हृदय अपनी खुराकका दावा करने लगा तो बाहरके साथ जीवनका सहज योग बाधाग्रस्त हो गया। और तब व्यथित हृदयको घेरकर अपने भीतर ही अपना आवर्तन शुरू हो गया,— चेतना तब अपने भीतरकी ओर ही आबद्ध रह गई। इस तरह रुग्ण हृदयके आवदारसे अन्तरके साथ बाहरका सामंजस्य जाता रहा, और मैंने अपना जो चिरकालका सहज अधिकार खो दिया था, 'सन्ध्या-संगीत'में उसीकी वेदनाने व्यक्त होनेकी चेष्टा की। अन्तमें एक दिन वह रुद्ध द्वार, मालूम नहीं किस धक्केसे, सहसा टूट गया, और तब, जिसे खो दिया था उसे पा गया। केवल पाया ही नहीं, बल्कि विच्छेदके व्यवधानसे भीतरसे उसका पूर्ण परिचय मिल गया। सहजको जब दुरूह करनेके बाद प्राप्त किया जाता है तभी पाना सार्थक होता है। इसीलिए अपने शिशुकालके विश्वको जब 'प्रभात-संगीत'में फिरसे प्राप्त किया, तो वह बहुत अधिक होकर ही मिला। इसी तरह प्रकृतिके साथ सहज मिलनसे, विच्छेद और पुनर्मिलनमें जीवनका प्रथम नाटक शेष हो गया। 'शेष हो गया' कहनेसे मिथ्या कहना होगा। यही खेल फिर और-भी जरा विचित्र होकर जारी रहा, और भी एक दुरूह समस्याके भीतरसे बृहत्तर परिणाममें पहुँचता दिखाई दिया। विशेष मानव अपने जीवनमें विशेष खेल ही पूरा करने आता है, पर्व-पर्वमें उसका चक्र बृहत्तर परिधिका अवलम्बन लेकर बढ़ता रहता है, प्रत्येक चक्कर सहसा पृथक जान पड़ता है, किन्तु खोज की जाय तो मालूम होगा कि केन्द्र एक ही है।

मैं जब 'संध्या-संगीत' लिख रहा था तब मेरा खंड-खंड गद्य भी 'विविध प्रसंग' के नामसे निकल रहा था। और, जब 'प्रभात-संगीत' लिख रहा था तबसे या उसके कुछ समय बादसे मेरे गद्य लेख 'आलोचना' नामक संग्रह-ग्रन्थमें प्रकाशित हुए थे। इन दोनों गद्य-ग्रन्थोंमें जो प्रभेद घटित हुआ है उसे पढ़ देखनेसे ही लेखकके चित्तकी गतिका निर्णय किया जा सकता है।

राजेन्द्रलाल मित्र

इसी समय, बंगला साहित्यिकोंको एकत्र करके एक परिषद[1] स्थापित करनेकी कल्पना ज्योति-दादाके मनमें उदित हुई थी। बंगलाकी परिभाषा ठीक करना और साधारणतः सर्वप्रकारसे बंगला भाषा और साहित्यको पुष्ट करना-- इस सभाका उद्देश्य था। वर्तमान बंगीय साहित्य-परिषद्[2] जिस उद्देश्यको लेकर आविर्भूत हुई है उसके साथ उस सकल्पित सभाका कोई अनैक्य नहीं था।

राजेन्द्रलाल मित्र महाशयने[3] बड़े उत्साहके साथ इस प्रस्तावको ग्रहण किया। उन्हींको इस सभाका सभापति बनाया गया था। मैं जब विद्यासागर महाशयको इस सभाके लिए आह्वान करने गया तब सभाका उद्देश्य और सदस्योंके नाम सुनकर उन्होंने कहा, "मैं परामर्श देता हूं कि हम जैसोंको रहने दो,-- बड़ों-बड़ोंको लेकर कोई काम नहीं होनेका, किसीके साथ किसीका मत नहीं मिलेगा।" और वे इस सभामें शामिल होनेको राजी नहीं हुए। बंकिम बाबू सदस्य हुए थे, किन्तु सभाके काममें उनका सहयोग मिला हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

सच तो यह है कि जितने दिन सभा जीवित थी, उसका सारा काम अकेले राजेन्द्रलाल मित्र ही करते रहे थे। भौगोलिक परिभाषा-निर्णयमें हमलोगोंने प्रथम हस्तक्षेप किया था। परिभाषाका पहला मसौदा राजेन्द्रलालने ही बना

---

१ सारस्वत समाज। इसका प्रथम अधिवेशन श्रावण १९३९ में हुआ था।
२ बंगीय साहित्य परिषद्। यह वैशाख १९५१ में स्थापित हुई थी।
३ राजा राजेन्द्रलाल मित्र (१८२२-९१ ई०)

दिया था। उसे छपाकर आलोचनाके लिए अन्यान्य सदस्योंमें बाँट दिया गया था। संसारके समस्त देशोंके नाम उन-उन देशोंमें प्रचलित उच्चारणके अनुसार लिपिबद्ध करनेका संकल्प भी हमलोगोंका था।

विद्यासागरकी बात ही आखिर सच साबित हुई, बड़ों-बड़ोंको एकत्र करके किसी काममें लगाना सम्भव नहीं हुआ। सभा कुछ अंकुरित होते ही सूख गई।

किन्तु राजेन्द्रलाल मित्र सव्यसाची थे। वे अकेले ही एक सभा थे। इस उपलक्ष्यमें उनसे परिचित होकर मैं धन्य हुआ था। अब तक बंगालके अनेक बड़े-बड़े साहित्यिकोंसे मेरा परिचय हुआ है, किन्तु राजेन्द्रलालकी स्मृति मेरे मनमें जैसी उज्ज्वल होकर विराज रही है वैसी और किसीकी नहीं।

मानिकतल्लाके एक बगीचेमें जहाँ 'कोर्ट ऑफ वार्ड्स' था वहाँ मैं उनसे चाहे जब मिलने जाया करता था। अक्सर मैं सवेरे जाता; और देखता कि वे लिखने पढ़नेके काममें लगे हुए हैं। कम उमरके अविवेकके कारण ही बिना किसी संकोचके मैं उनके काममें खलल डाला करता था। किन्तु इसके लिए कभी उन्हें क्षण-भरके लिए अप्रसन्न होते नहीं देखा। मुझे देखते ही वे काम बन्द करके बात करना शुरू कर देते। सभी जानते हैं कि वे कानसे कम सुनते थे। इसलिए जहाँ तक बनता वे मुझे प्रश्न करनेका मौका ही नहीं देते थे। कोई एक बड़ा प्रसंग छेड़कर खुद ही बोलते रहते थे। उनके मुँहसे बातें सुननेके लिए ही मैं उनके पास जाया करता था। और किसीके साथ बातचीत करनेमें इतने नये-नये विषयोंमें इतना ज्यादा सोचनेका मसाला मुझे नहीं मिला। मैं मुग्ध होकर उनकी बातें सुना करता। शायद उस समयकी पाठ्यपुस्तक-निर्वाचन-समितिके वे एक प्रधान सदस्य थे। उनके पास जो पुस्तकें भेजी जाती थीं उन्हें वे पेन्सिलसे निशान लगा-लगाकर नोट करते हुए पढ़ते थे। किसी-किसी दिन ऐसी किसी-एक पुस्तकको उपलक्ष्य करके वे बंगला भाषाशैली और भाषातत्त्वके विषयमें बात करते थे, और उससे मैं विशेष उपकृत होता था। ऐसे बहुत कम विषय थे जिनके सम्बन्धमें उन्होंने अच्छी तरह आलोचना न की हो, और जो-कुछ उनकी आलोचनाका विषय होता उसे वे प्राञ्जल भाषामें व्यक्त कर सकते थे। उस समय जिस बंगला-साहित्य-सभाकी प्रतिष्ठाता की चेष्टा हुई थी उस सभामें और किसी भी सदस्यकी जरा भी मुखापेक्षा न करके

यदि एकमात्र राजेन्द्रलाल मित्र महाशयसे काम करा लिया जाता तो वर्तमान वंगीय साहित्य-परिषद्के अनेक कार्य केवल उन्हीके द्वारा बहुत आगे बढ सकते थे, इसमें जरा भी सन्देह नही।

वे केवल मननशील लेखक थे—यही उनका प्रधान गौरव नही, उनकी मूर्तिमें ही उनके मनुष्यत्वको मानो प्रत्यक्ष किया जा सकता था। मुझ जैसे अर्वाचीनकी भी जरा भी अवज्ञा न करके वे पर्याप्त दाक्षिण्यके साथ मेरे साथ बड़े-बड़े विषयोंमें बातचीत करते थे जब कि तेजस्वितामें उन दिनो उनके समकक्ष और कोई भी न था। और तो क्या, मैंने उनसे 'भारती'के लिए 'यमका कुत्ता' शीर्षक निबन्ध तक वसूल कर लिया था। उस जमानेमें और-किसी यशस्वी लेखकके साथ ऐसा उत्पात करना मेरे साहसके बाहरकी बात थी; और इतना प्रश्रय पानेकी आशा भी नहीं करता था। किन्तु योद्धाके वेशमें उनकी रुद्रमूर्ति खतरनाक थी। म्युनिसिपल सभा और सेनेट-सभामें उनके सभी प्रतिपक्षी उनसे डरते हुए चलते थे। उस जमानेमें कृष्णदास पाल थे चतुर-कौशली व्यक्ति और राजेन्द्रलाल थे वलवीर्यवान। बड़े-बड़े मल्लोंके साथ भी द्वन्द्वयुद्धमें वे कभी परान्मुख नही हुए। असलमें पराभूत होना वे जानते ही न थे। एसियाटिक सोसाइटीके ग्रन्थ-प्रकाशन और पुरातत्व आलोचनाके कार्यमें अनेक संस्कृतज्ञ पण्डितोसे वे काम लिया करते थे। मुझे याद है, इस उपलक्ष्यमें उस समयके अनेक महत्त्वविद्वेषी ईर्षापरायण व्यक्ति कहा करते थे कि 'काम तो सारा पण्डित करते है, और फोकटमें नाम कमाते है मित्र महाशय।' आज भी ऐसे दृष्टान्त कभी-कभी देखनेमे आते है कि जो व्यक्ति यन्त्र-मात्र है, क्रमशः उसके मनमें ऐसा खयाल होने लगता है कि 'असलमें काम तो अब मैं ही करता हूँ, और तो सब फालतू बात है।' कलम बेचारीके अगर चेतना होती तो लिखते लिखते जरूर वह किसी-न-किसी समय यह खयाल कर बैठती कि 'लिखनेका काम तो सारा मैं ही करती हूं, मेरे मुहपर तो पड़ती है स्याही, और लेखककी ख्याति उज्ज्वल हो उठती है।'

वंग-प्रदेशके ऐसे एक असाधारण मनस्वी-पुरुषको, मृत्युके वाद, प्रदेशवासियों की तरफसे विशेष कोई सम्मान नही दिया गया। इसका एक कारण तो यह है कि इनकी मृत्युके कुछ ही दिन बाद विद्यासागरकी मृत्यु हुई थी, और उसी शोकमें

शकुन्तलाकी वियोग-वेदना देखते देखते विलुप्त हो गई थी। दूसरा कारण है बक्ता-भाषामें उनकी कीर्तिका परिमाण उतना अधिक नहीं था, इसलिए सर्वसाधारणके हृदयमें भली-भांति प्रतिष्ठित होनेका उन्हें अवसर नहीं ही मिला।

करवार

इसके बाद कुछ दिनोंके लिए हमलोगोंने शहर स्ट्रीट का रास्ता छोड़ दिया और करवारमें समुद्र-तटपर डेरा डाला। करवार बम्बई प्रेसिडेन्सीके दक्षिणमें स्थित कर्नाटकका प्रधान नगर है। यह एला-लता और चन्दन-वृक्षोंकी जन्मभूमि मलयाचलका देश है। मझले भाई साहब वहाँके जज थे।

यह शैलमाला-वेष्टित छोटा-सा समुद्री बन्दर ऐसा निर्जन और ऐसा प्रच्छन्न है कि नगर यहाँ अपनी नागरी-मूर्ति प्रकट नहीं कर पाया है। अर्ध-चन्द्राकार बालुकामय आर्द्रभूमिने अपार नीलाम्बुराशिकी ओर भुजाएँ पसार रखी है, मानो वह अनन्तको आलिंगन कर रखनेकी मूर्तिमती व्याकुलता हो। प्रशस्त बालुकातटके किनारे-किनारे बड़े-बड़े झाऊ-वृक्षोंका अरण्य है, और उस अरण्यकी एक सीमामें काला-नदी नामकी एक छोटी-सी नदी, दो गिरि-बन्धुर उपकूल-रेखाके बीचमेंसे निकलकर, समुद्रमें आ मिली है। मुझे याद है, एक दिन शुक्लपक्षकी गोधूलिमें एक छोटी-सी नावपर बैठकर हमलोग काला-नदीमें, स्रोतके विरुद्ध, दूर तक गये थे। एक जगह किनारेपर उतरकर शिवाजीका एक प्राचीन गिरि-दुर्ग देखा, और फिर नावपर सवार होकर बहने लगे। निस्तब्ध वन-पर्वत और निर्जन सकीर्ण नदीके स्रोतपर ज्योत्स्ना-रात्रि ध्यानासनमें बैठकर चन्द्रलोकका जादू-मंत्र पढ़ने लगी। हमलोग किनारे उतरकर एक किसानकी कुटियापर घेरेदार साफ-सुथरे लिपे-हुए आँगनमें जा उपस्थित हुए। दीवारकी ढाल छायाके ऊपरसे जहाँ चाँदकी चाँदनी तिरछी होकर पड़ी थी वहाँ घरके दालानके सामने आसनपर बैठकर भोजन किया। लौटते वक्त भाटेमें नाव छोड़ दी।

समुद्रके मुहाने तक आनेमें काफी देर लग गई। मुहानेपर ही बालू-तटपर उतर गये और पैदल घरकी ओर चल पड़े। तब निशीथ रात्रि, निस्तरंग समुद्र, झाऊ-वनका सदा-मर्मरित चांचल्य भी बिलकुल थमा हुआ, सुदूर-विस्तृत बालुका-राशिके प्रान्तमें तरुश्रेणीका छायापुंज निस्पन्द-दिक्चक्रवालमें नीलाभ शैलमाला पाण्डुर-नील आकाशके तले निमग्न था, और, उस उदार शुभ्रता और निविड़ स्तब्धतामेंसे हम कुछ आदमी अपनी काली छाया डालते हुए चुपचाप चले जा रहे थे। कैसे क्षण थे वे! जब घर पहुचा तो नीदसे भी बढ़कर न-जाने किस गभीरता में मेरी नीद डूब गई। उसी रातमें मैंने जो कविता लिखी थी वह अपने सुदूर प्रवासके उस समुद्र-तटपर बीती रजनीसे विजड़ित है। वह कविता यदि उस स्मृतिसे विच्छिन्न करके पढ़ी जाय तो पाठकोंको कैसी लगेगी, इस सन्देहमें मोहित बाबूने उसे स्व-प्रकाशित ग्रन्थावलीमें स्थान नही दिया। किन्तु, मेरा खयाल है, 'जीवन-स्मृति'में यहां उसे आसन दिया जाय तो यह उसका अनधिकार-प्रवेश न होगा :—

जाई जाई डूबे जाई आरो आरो डूबे जाई
विह्वल अवश अचेतन।
कोन् खाने कोन् दूरे निशीथेर कोन् माझे
कोथा होये जाई निमगन।
हे धरणी, पद-तले दियो ना दियो ना बाधा,
दाओ मोरे दाओ छेड़े दाओ।
अनन्त दिवस-निशि एमनि डुबिते थाकी,
तोमरा सुदूरे चोले जाओ।
तोमरा चाहिया थाको, ज्योत्सना-अमृत पाने
विह्वल विलीन तारागुली;
अपार दिगन्त ओगो थाको ए माथार 'परे
दुई दिके दुई पाखा तुली।
गान नाई, कथा नाई, शब्द नाई, स्पर्श नाई,
नाई घूम, नाई जागरण,

कोथा किछु नाहि जाने, सर्वाङ्गे ज्योत्स्ना लागे,
सर्वाङ्ग पुलके अचेतन।
असीमे सुनील शून्ये विश्व कोथा भेसे गेछे,
तारे जेनो देखा नाहि जाय;
निशीथेर माझे शुधू महान एकाकी आमि
अतलेते डूबि रे कोथाय!
गाओ विश्व, गाओ तुमि सुदूर अदृश्य होते
गाओ तव नाविकेर गान,
शत लक्ष जात्री लोये कोथाय जेतेछ तुमि
ताई भावी मुदिया नयान।
अनन्त रजनी शुधू, डूबे जाई, निबे जाई,
मोरे जाई असीम मधुरे —
बिन्दु होते बिन्दु होये मिलाये मिशाये जाई
अनन्तेर सुदूर सुदूरे।

यहां एक बात कहनी आवश्यक है, किसी सद्य-आवेगसे मन जब ऊपर तक भर उठता है तब जो भी कुछ लिखा जाय सो अच्छा ही होगा— ऐसा कोई नियम नहीं। तब तो गद्‌गद-वाक्योंका खेल होता है। भावके साथ भावुकता सम्पूर्ण व्यवधान होना भी जैसे अचल है वैसे ही बिलकुल अव्यवधान होना भी काव्य-रचना के लिए अनुकूल नहीं है। स्मरणकी तूलिकासे ही कवित्वका रंग खिलना अच्छा है। प्रत्यक्षमें एक तरहकी जबरदस्ती होती है,— कुछ-कुछ उसका अनुशासन न तोड़ा जाय तो कल्पना अपनी जगह नहीं पा सकती। केवल कवित्वमें ही नहीं, सब प्रकारकी कारु-कलामें भी शिल्पकारके चित्तकी एक निर्लिप्तता होनी चाहिए। मनुष्यकी अन्तरात्मामें जो सृष्टिकर्ता है, कर्तृत्व उसीके हाथमें न रहे तो काम नहीं चल सकता। यदि रचनाका विषय ही उसे लांघकर कर्तृत्व करना चाहे तो उससे प्रतिबिम्ब बन सकता है, प्रतिमूर्ति नहीं बन सकती।

\

'प्रकृतिका प्रतिशोध'

यही, करवारके समुद्र-तटपर बैठकर मैंने 'प्रकृतिका प्रतिशोध' नामक नाटच काव्य लिखा था। इस काव्यके नायक संन्यासीने सम्पूर्ण स्नेह-बन्धन और मोह-बन्धनको तोड़कर, प्रकृतिपर विजय प्राप्त करके, अत्यन्त विशुद्ध-भावसे अनन्तकी उपलब्धि करना चाहा था। किन्तु, अन्तमें एक बालिका उन्हें अपने स्नेह-पाशमें बाँधकर अनन्तके ध्यानमेंसे निकालकर ससारमे लौटा लाई। संन्यासी जब लौट आये तो उन्होंने यही देखा कि क्षुद्रको लेकर ही विशाल है, सीमाको लेकर ही असीम है, प्रेमको लेकर ही मुक्ति है। प्रेमका प्रकाश पानेके बाद जहाँ भी कहीं दृष्टि डालते हैं वहीं देखते हैं कि सीमामें भी सीमा नहीं है।

असलमें, 'प्रकृतिका सौन्दर्य केवल मेरे ही मनकी मरीचिका नहीं, उसमें असीम का आनन्द ही प्रकट हो रहा है और इसीलिए उस सौन्दर्यके आगे हम अपनेको भूल जाते हैं'— इस बातको निश्चयपूर्वक समझानेका ही स्थान था वह करवारका समुद्र-तट। बाहरकी प्रकृतिमें जहाँ नियमोंके इन्द्रजालमें असीम अपनेको प्रकट कर रहा है वहाँ नियमोंके उस बन्धनमे हम असीमको भले ही न देख पाते हों, किन्तु जहाँ सौन्दर्य और प्रीतिके सम्पर्कमें हृदय अत्यन्त अव्यवहित-रूपसे क्षुद्रमें भी उस 'भूमा' का स्पर्श प्राप्त करता है वहाँ उस प्रत्यक्ष-बोधके आगे कोई तर्क भला कैसे टिक सकता है। इसी हृदयके पथसे ही प्रकृति संन्यासीको अपने सीमा-सिंहासनके अधिराज असीमके खास-दरबारमें ले गई थी। 'प्रकृतिके प्रतिशोध' में एक ओर तो हैं रास्तेके लोग और गाँवके स्त्री-पुरुष, जो अपनी घर-गढन्त दैनन्दिन तुच्छतामें अचेतनावस्थामें दिन काट रहे हैं; और दूसरी ओर हैं सन्यासी, जो अपने एक घर-गढन्त असीममें किसी कदर अपनेको और सब-कुछको विलुप्त कर देनेकी चेष्टा कर रहा है। प्रेमके सेतुसे दोनों पक्षोंका जब भेद मिट गया और गृहीके साथ सन्यासीका जब मिलन हो गया, उसी क्षण, सीमा और असीम दोनोंके एकसाथ मिट जानेसे, सीमाकी मिथ्या तुच्छता और असीमकी मिथ्या शून्यता दूर हो गई। अपने प्रारम्भिक जीवनमें एक दिन जैसे मैं अपनी अन्तरात्माके एक अनिर्देश्यनामय अन्धकार-गुहामें प्रवेश करके बाहरके सहज-स्वाभाविक अधिकारको खो बैठा था, वैसे, अन्तमें एक दिन उस बाहरके ही एक मनोहर आलोकने मेरे हृदयमें प्रवेश

करके मुझे प्रकृतिके साथ परिपूर्ण-रूपमें मिला दिया ; और तब इस 'प्रकृतिके प्रतिशोध'में भी उस इतिहासको जरा-कुछ और ढंगसे लिखना पड़ा। बादकी मेरी समस्त काव्य-रचनाओंकी यह भी एक भूमिका है। मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरी काव्य-रचनाका यही एकमात्र पर्व है, इस पर्वका नाम दिया जा सकता है 'सीमामें ही असीमके साथ मिलनका पर्व'। और, इसी भावको मैंने भी अपने शेष जीवनकी एक कवितामें प्रकट किया है :—

'वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय।'[1]

तब 'आलोचना'के नामसे मैंने जो छोटे-छोटे निबन्ध लिखे थे उनमें प्रारम्भ में ही 'प्रकृतिके प्रतिशोध' के भीतरके भावोंकी तत्त्व-व्याख्या लिखनेकी चेष्टा की थी। उनमें इसी विषयकी आलोचना की गई है कि सीमा सीमाबद्ध नहीं, वह अतलस्पर्श गभीरताको एक कणमें महत करके दिखा रही है। तत्त्व-दृष्टिसे उस व्याख्याका कोई मूल्य है या नहीं, और काव्यकी दृष्टिसे 'प्रकृतिके प्रतिशोध'का क्या स्थान है, मैं नहीं जानता, किन्तु आज यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि एकमात्र इसी आइडिया (भाव-धारा) ने अलक्ष्य-रूपमें नाना वेशोंमें आज तक मेरी समस्त रचनाओंपर अधिकार कर रखा है।

कारवारसे वापस आते समय जहाजपर मैंने 'प्रकृतिके प्रतिशोध'के कई गीत लिखे थे। बड़े आनन्दके साथ मैंने उसका पहला गीत, जहाजके डेकपर बैठकर, गाते-गाते रचा था :—

'हेदे गो नन्दरानी,
आमादेर श्यामके छेड़े दाओ —
आमरा राखाल बालक गोष्ठे जाबो,
आमादेर श्यामके दिये दाओ।'

सवेरेका सूर्य उग आया है, फूल खिले हुए हैं, ग्वाल-बाल मैदान जा रहे हैं। उस सूर्योदयको, उस फूल खिलनेको, उस मैदान-विहारको वे सूना नहीं रखना चाहते। वहीं वे श्यामके साथ मिल जाना चाहते हैं, वहीं वे असीमका सुसज्जित

[1] भावार्थ—'वैराग्य साधनमें जो मुक्ति है वह मेरे लिए नहीं।'

रूप देखना चाहते हैं, वहीं खेत-मैदानमें वन-पर्वतमें असीमके साथ आनन्दके खेलमें सम्मिलित होनेके लिए ही तो वे घरसे निकल पड़े हैं। दूर नहीं, ऐश्वर्यमें नहीं, उनके उपकरण अत्यन्त साधारण हैं, पीली धोती और वन-फूलकी माला ही उनके लिए यथेष्ट है; कारण सर्वत्र ही जिसमें आनन्द है उसे किसी बड़े स्थानमें ढूंढा जाय तो उसके लिए आडम्बर करना पड़ता है और उससे असल लक्ष्यको ही खो देना पड़ता है।'

करवारसे वापस आनेके कुछ दिन बाद, संवत् १९४० के अगहनमें, मेरा विवाह[1] हो गया। तब मेरी उमर थी बाईस सालकी।

'चित्र और गीत'

'चित्र और गीत' नाम धारण करके मेरी जो कविताएँ प्रकाशित (फागुन १९४०में) हुई थी उनमेंसे अधिकांश इसी समयकी लिखी हुई हैं।

हमलोग तब चौरंगीके नजदीक (२३७ नम्बर) सर्कुलर रोडके एक बगीचे वाले मकानमें रहते थे। उस मकानके दक्षिणकी तरफ बड़ी-सी एक बस्ती थी। मैं अकसर दूसरी मंजिलकी खिड़कीके पास बैठा-बैठा उस बस्तीका दृश्य देखा करता था। उनलोगोंके दिन-भरके काम-काज, विश्राम, खेल-कूद और गमनागमन देखनेमें मुझे बड़ा आनन्द आता था। मानो मेरे लिए वह एक विचित्र कहानी हो।

नाना वस्तुओंको देखनेकी जो दृष्टि है वह दृष्टि मानो मेरे सिर हो ली। उस समय मानो मैं एक-एक स्वतंत्र चित्रको कल्पनाके आलोकमें, मनके आनन्दसे घेरकर, देखा करता था। एक-एक विशेष दृश्य तब एक-एक विशेष रस और रंगमें निर्दिष्ट होकर मेरी दृष्टिके आगे आया करते थे। इस तरह अपने मनकी कल्पनासे घिरी तसवीरें बनानेमें मुझे बड़ा आनन्द आता, और बड़ा अच्छा लगता।

१ बंगला संवत् १२९०, तारीख २४ अगहनके दिन श्रीमती मृणालिनी देवीके साथ कविका विवाह हुआ था। कवि-पत्नीका जन्म संवत् १९३०में और मरण १९५९में हुआ था।

इसमें और कुछ नहीं, एक-एक परिस्फुट चित्र अंकित करनेकी आकांक्षा काम कर रही थी। यह आँखोंसे मनकी चीजको और मनसे आँखों-देखी चीजको देखनेकी इच्छा है। अगर मैं तूलिकासे चित्र खींच सकता तो पटपर रेखा और रंगोंसे अपने उतावले मनकी दृष्टि और सृष्टिको बाँध रखनेकी चेष्टा करता, किन्तु वह उपाय मेरे हाथमें नहीं था। था केवल छन्द और शब्द। किन्तु शब्दकी तूलिकासे तब स्पष्ट रेखा खींचना नहीं सीखा था, इसलिए बार-बार रंग इधर-उधर फैल जाया करता था। सो फैल जाने दो, फिर भी बच्चेको जब पहले-पहल रंगका बकस इनाममें मिलता है तब वह मन-माने ढंगसे ऊटपटांग तसवीर खींचनेकी कोशिशमें उतावला हो उठता है। मैंने भी वे दिन, अपने जीवनमें पहले-पहल 'नवयौवनके नाना रंगोंका बकस' पाकर, अपनी धुनमें रंग-बिरंगी तसवीर खींचनेकी कोशिशमें बिताये हैं। उन दिनोंकी उस बाईस-सालकी उमरके साथ उन चित्रोंको आज मिलाकर देखा जाय तो हो सकता है कि उनकी कच्ची-अधकचरी रेखा और धुंधले रंगोंके भीतरसे भी कोई-एक चेहरा ढूंढ़े मिल जाय।

पहले ही लिख चुका हूँ कि 'प्रभात-संगीत'से मेरा एक पर्व समाप्त हो गया है। इस 'चित्र और गीत'से जीवन-नाट्यका फिरसे प्रारम्भ हुआ। किसी बातके आरम्भके आयोजनमें काफी बहुलता होती है। फिर काम जितना ही आगे बढ़ता रहता है, बहुलता भी उतनी ही खिसकती रहती है। इस नये पर्वके प्रारम्भकी ओर शायद काफी फालतू चीजें आ जुटी हैं। वे अगर वृक्षके पत्र होते तो जरूर झड़ जाते। किन्तु पुस्तकके पत्र तो इतनी आसानीसे झड़ते नहीं, उनके दिन बीत जानेपर भी वे टिके रहते हैं। अत्यन्त साधारण वस्तुको भी विशेष-रूपमें देखनेका पर्व या काल इस 'चित्र और गीत'से आरम्भ होता है। गानका सुर जैसे सीधी बातको भी गम्भीर बना देता है उसी तरह किसी-एक सामान्य उपलक्ष्यको लेकर उसे हृदयके रसमें पागकर उसकी तुच्छता मिटा डालनेकी इच्छा 'चित्र और गीत'में प्रस्फुटित हुई है। नहीं, ठीक ऐसा नहीं है। अपने मनका तार जब सुरमें बँधा रहता है तब विश्व-संगीतकी झंकार सब जगहोंसे उठकर ही उसमें अनुरणन उठाती है। उन दिनों लेखकके चित्त-यन्त्रमें एक सुर जाग रहा था, इसीसे बाहरका कुछ भी उसके लिए तुच्छ नहीं था। किसी-किसी दिन सहसा जो दृष्टिगत होता,

देखता कि उसके साथ मेरी अन्तरात्माका एक सुर मिल रहा है। छोटा बच्चा जैसे धूल-मिट्टी-कंकड़-सीप जी-चाहे उसी चीजसे खेल सकता है— कारण उसके मनके भीतर ही खेल जाग रहा है, वह अपने अन्तरंगके खेलके आनन्दसे जगतके आनन्द-खेलको सत्य-रूपमें आविष्कृत कर सकता है, इसीलिए उसके लिए सर्वत्र ही आयोजन तैयार है— ठीक इसी तरह अन्तरात्मामें जिस समय हमारे यौवनके गीत नाना सुरोंमें भर उठते हैं उसी समय हम उस 'बोध'के द्वारा इस सत्यको देख सकते हैं कि संसारमें ऐसी जगह ही नहीं जहाँ विश्व-वीणाके हजारों-लाखों तार नित्य-सुरमें न बँधे हों, और तब जो-कुछ नजर आता है, जो-कुछ हाथ लगता है, उसीमें मजलिस जम उठती है, कहीं दूर नहीं जाना पड़ता।

'बालक'

'चित्र और गीत' और 'तीव्र और कोमल' (संगीत) के बीचके समयमें 'बालक' नामक एक मासिकपत्रने (सं० १९४२) जन्म लिया, और उसने साल-भरके योग्य औषधकी फसल छोड़कर दुनियासे कूच कर दिया।

बच्चोंके लिए एक सचित्र मासिकपत्र निकालनेके लिए मझली बहू-रानीका विशेष आग्रह था। उनकी इच्छा थी कि सुधीन्द्र बलेन्द्र आदि अपने घरके बालक इस पत्रमें अपनी-अपनी रचनाएँ प्रकाशित करें। किन्तु, यह जानकर कि केवल उन्हींके लेखोंसे पत्र नहीं चल सकता, उन्होंने स्वयं सम्पादिका होकर मुझसे भी रचना संग्रहका भार लेनेको कहा। 'बालक'के दो-एक अंक निकलनेके बाद एक बार दो-चारके दिनके लिए मैं राजनारायण बाबूसे मिलने देवघर गया। वहाँसे वापस आते समय, रातको गाडीमें बहुत भीड़ थी, अच्छी तरह नींद नहीं आ रही थी और ठीक आँखके सामने बत्ती जल रही थी। सोचा, नींद जब कि आनेकी ही नहीं तो इस अवसरमें 'बालक'के लिए कोई कहानी सोच लूँ। कहानी सोचनेकी व्यर्थ चेष्टाके खिंचावमें कहानी तो आई नहीं, नींद आ गई। स्वप्न देखा, किसी मन्दिर के सोपानपर बलिका रक्त-चिह्न देखकर एक बालिका अत्यन्त करुण व्याकुलताके साथ अपने पितासे पूछ रही है, "बापू, यह क्या! यह तो खून है!" बालिकाकी

इस करुण कातरतामें पिताकी अन्तरात्मा व्यथित हो उठी, किन्तु बाहरसे वह नाराजी जाहिर करता हुआ बालिकाके प्रश्नको दवा देनेकी कोशिश करने लगा। आँख खुलते ही मैंने सोचा, यह मेरी स्वप्न-लब्ध कहानी है। मेरी ऐसी स्वप्न-लब्ध कहानियाँ और अन्य रचनाएँ और-भी हैं। इस स्वप्नके साथ त्रिपुराके राजा गोविन्दमाणिक्यका इतिहास मिलाकर, 'राजर्षि'के नामसे, मैं प्रतिमास 'बालक'में धारावाहिक कहानी लिखने लगा।

वे दिन बेफिक्रीके दिन थे। क्या तो मेरे जीवनमें और क्या मेरे गद्य-पद्यमें किसी प्रकारके अभिप्रायने अपनेको एकान्तरूपसे प्रकट करना नहीं चाहा। मैं तब पथिकोंके साथ शामिल नहीं हुआ था, केवल पथके किनारेके घरमें बैठा रहता था। पथसे नाना जन नाना कामोंसे जाते-आते रहते थे, और मैं उन्हें देखा करता था; और वर्षा-शरत्-वसन्त दूर-प्रवासके अतिथिकी तरह अनाहूत मेरे घर आकर दिन बिता दिया करते थे। किन्तु केवल शरत्-वसन्तसे ही मेरा कारबार चल जाता हो, सो बात नहीं। मेरे छोटे-से घरमें कितने विचित्र-विचित्र मनुष्य बीच-बीच में मिलने आया करते थे उनकी हद नहीं। मानो वे बिना-लंगरकी नाव हों, कोई प्रयोजन नहीं, यों ही बहते रहते हों। उनमें दो-एक ऐसे भी अभागे होते जो बिना परिश्रमके नाना छलोंसे मुझसे अपने अभावकी पूर्ति कर ले जाते। किन्तु मुझे धोखा देनेके लिए किसी कौशलकी जरूरत नहीं थी, तब मेरा जागतिक भार हलका था और वंचनाको मैं वंचना समझता ही न था। मैं ऐसे अनेक छात्रोंको दीर्घकाल तक पढ़ाईका खर्च देता रहा हूं जिनके लिए उसकी कोई जरूरत ही नहीं थी और जिनकी पढ़ाई शुरूसे आखिर तक अनध्याय ही थी। एक बार एक लम्बे बालवाले लड़केने मुझे अपनी काल्पनिक बहनकी चिट्ठी लाकर दी। उसमें वे अपने ही समान किसी काल्पनिक विमाताके अत्याचारसे पीड़ित अपने उस सहोदर को मेरे हाथ सौंप रही हैं। उसमें केवल वह सहोदर ही काल्पनिक नहीं था, इस बातका निश्चित प्रमाण बादमें मिला। किन्तु, जिस पक्षीने उड़ना ही नहीं सीखा उसपर धूमधामकी तैयारियोंके साथ बन्दूकका निशाना ठीक करना जैसे अनावश्यक है, इस बहनका पत्र भी मेरे लिए वैसा ही व्यर्थका बाहुल्य था। एक बार एक लड़केने आकर मुझसे कहा कि वह बी० ए०में पढ रहा है, लेकिन सिर-दर्दकी बीमारी

के कारण परीक्षा देना उसके लिए असाध्य हो रहा है। सुनकर मैं उद्विग्न हो उठा, किन्तु अन्यान्य अधिकांश विद्याओंकी तरह डाक्टरी विद्यामें भी मेरे पारदर्शिता नहीं थी, लिहाजा किस तरह उसे सफलकाम बनाया जाय, मेरी कुछ समझमें नहीं आया। उसने कहा, "मैंने स्वप्नमें देखा है कि आपकी स्त्री पूर्वजन्ममें मेरी माता थी, उनका पादोदक पीनेसे ही मेरा रोग दूर हो जायगा।" और फिर हँसता हुआ कहने लगा, "आप शायद इन सब बातोंपर विश्वास नहीं करते।" मैंने कहा, "मैं विश्वास करूं या न करूं, तुम्हारा रोग अगर अच्छा हो तो हो जाय।" मैंने मामूली पानीको स्त्रीके पादोदकका स्थानापन्न बनाकर चला दिया। और उसे पीकर 'पुत्र'को आश्चर्यजनक फल मिला। क्रमशः अभिव्यक्तिके पर्यायमें पानीसे वह बड़ी आसानीसे अन्नपर आ पहुंचा। फिर धीरे-धीरे उसने मेरे कमरेके एक हिस्सेपर दखल जमा लिया और अपने मित्रोंको बुला-बुलाकर उन्हें तम्बाकू भी पिलाने लगा। मुझे बड़े संकोचके साथ उस धूमाच्छन्न कमरेको छोड़ देना पड़ा। क्रमशः कईएक अत्यन्त स्थूल घटनाओंसे स्पष्ट प्रमाणित हो गया कि उसके और चाहे जो भी रोग हो, कमसे कम मस्तिष्ककी दुर्बलता नामको भी नहीं थी। इसके बाद पूर्वजन्मकी सन्तानोंपर विशिष्ट प्रमाणके बिना विश्वास करना मेरे लिए कठिन हो उठा। बादमें देखा गया कि इस सम्बन्धमें मेरी ख्याति काफी फैल गई है। एक दिन एक पत्र मिला कि मेरी पूर्वजन्मकी कोई कन्या अपने रोगकी शान्तिके लिए मेरा प्रसाद चाहती है। यहाँ मुझे कठोर होकर लकीर खींचनी पड़ी। एक पुत्रको लेकर ही काफी दुःख उठा चुका हूं, अब पूर्वजन्मकी कन्याका दायित्व लेना मेरे लिए असम्भव था। मुझे साफ इनकार कर देना पड़ा।

इधर श्रीशचन्द्र मजुमदार महाशयके साथ मेरी मित्रता जम चुकी थी। शाम के वक्त वे और प्रियनाथ बाबू मेरे उस कोनेवाले कमरेमें आकर बैठक जमाया करते थे। गीत और साहित्यिक आलोचनामें काफी रात हो जाया करती थी। किसी-किसी दिन दिनमें भी बैठक जमा करती थी। असल बात यह थी कि मनुष्य की 'मैं' नामकी चीज जब तक नाना दिशाओंसे प्रबल और परिपुष्ट नहीं हो जाती तब तक जीवन बिना व्याघातके शरत्के मेघकी तरह उड़ता चला जाता है, और मेरी तब ऐसी ही हालत थी।

बंकिमचन्द्र

इसी समय बंकिम बाबूसे मेरे परिचयका सूत्रपात हुआ। पहले-पहल उनके दर्शन हुए काफी दिन बीत चुके थे। तब कलकत्ता-विश्वविद्यालयके प्राक्तन छात्रों ने मिलकर एक वार्षिक सम्मेलनकी स्थापना (१८७६ ई०में) की थी। चन्द्रनाथ वसु महाशय उसके मुख्य आयोजक थे। शायद उन्होंने आशा की थी कि दूर भविष्यमें मैं भी कभी उस सम्मेलनमें अधिकार प्राप्त कर सकूँगा, और इसी भरोसे उन्होंने मुझे उस सम्मेलनमें एक कविता पढ़नेका भार दिया था। तब उनकी युवावस्था थी। मुझे याद है, उस सम्मेलनमें वे स्वयं किसी जर्मन योद्धा-कविकी युद्ध-कविताका अंग्रेजी अनुवाद पढ़ना चाहते थे, और उसकी तैयारीके तौरपर उन्होंने हमारे घरपर बड़े उत्साहके साथ उसकी आवृत्ति की थी। कवि-वीरकी वामपार्श्वकी प्रेयसी सगिनी तलवारके प्रति उनका प्रेमोच्छ्वास-गीत जो चन्द्रनाथ बाबूको इतना प्रिय था उसका कारण पाठक यह न समझें कि यह उनकी युवावस्था का दोष था, असलमें वह जमाना ही कुछ और था।

उस सम्मेलन-सभामें घूमते-फिरते नाना लोगोंके बीच सहसा ऐसे एक आदमी को देखा जो सबसे निराले थे, जिन्हें अन्य लोगोंमें शामिल किया ही नहीं जा सकता था। उस गौरकान्ति दीर्घकाय पुरुषके चेहरेपर ऐसा एक दृप्त तेज देखा कि उनका परिचय जाननेके कौतूहलको मैं रोक ही न सका। उस दिनके इतने आदमियोंमें मैंने सिर्फ एक ही प्रश्न किया कि 'ये कौन हैं?' उत्तरमें जब यह सुना कि 'ये ही बंकिम बाबू हैं' तो मेरे अन्दर एक तरहका विस्मय-सा पैदा हुआ। अब तक रचनाएँ पढ़कर जिन्हें महान् समझता था, उनके चेहरेपर भी विशिष्टताका ऐसा निश्चित परिचय है — इस बातने उस दिन मुझे अत्यन्त प्रभावित किया था। उनकी खड्ग नासापर, उनके दबे-हुए ओंठोंपर, उनकी तीक्ष्णदृष्टिमें एक जबरदस्त प्रबलताका लक्षण था। वक्षस्थलपर दोनों हाथ बाँधे मानो वे सबसे अलग होकर चल रहे हों, भीड़में किसीके साथ सटने-लगनेका भाव मानो उनमें था ही नहीं और इसी बातने सबसे ज्यादा मेरी दृष्टि आकृष्ट की थी। उनमें केवल बुद्धिशाली मननशील लेखकका ही भाव हो सो बात नहीं, ऐसा लगता था कि उनके ललाटपर मानो कोई अदृश्य राज-तिलक लगा हो।

यहां एक छोटी-सी घटना हो गई, और उसकी तसवीर अब भी मेरे मनमें मुद्रित है। एक कमरेमें कोई संस्कृतज्ञ पंडित स्वदेशपर अपनी कुछ संस्कृत कविताएँ और बंगलामें उनकी व्याख्या सुना रहे थे। बंकिम बाबू कमरेमें घुसे और किनारेसे खड़े हो गये। पण्डितजीकी कवितामें एक जगह अश्लील नहीं किन्तु एक ओछी उपमा थी। पण्डितजीने ज्योंही उसकी व्याख्या करना आरम्भ किया त्यों ही बंकिम बाबू मुंहपर हाथ दबाये कमरेसे बाहर भाग गये। दरवाजेसे उनका वह भागकर जाना– आज भी मेरी आंखोंमें समाया हुआ है।

इसके बाद बहुत बार उन्हें देखनेकी इच्छा हुई है, पर कोई मौका हाथ नहीं आया। आखिर एक दिन, जब वे हवड़ामें डिप्टी मजिस्ट्रेट थे तब (१८८१ई०में) सहसा उनके घरपर जा उपस्थित हुआ। भेंट हुई, यथासाध्य बातचीत करनेकी कोशिश की, किन्तु वापस आते समय मनमें एक तरहकी लज्जा-सी लेता आया। अर्थात्, यह अनुभव करके कि मैं बिलकुल ही अर्वाचीन हूं, सोचने लगा, इस तरह बिना परिचयके बिना बुलाये उनके घर जाकर मैंने अच्छा नहीं किया।

उसके बाद उमरमें जब और भी कुछ बड़ा हुआ, और उस समयके लेखकोंमें जब सबसे कनिष्ठोंमें आसन प्राप्त हुआ– किन्तु यह स्थिर नहीं हो पाया था कि वह स्थान कहां और कैसा है– तब देखा गया कि क्रमशः जो-कुछ थोड़ी-सी ख्याति प्राप्त हुई थी उसमें भी काफी दुविधा और अवज्ञा मिली हुई है। उस जमानेमें कवि-लेखकोंके एक-एक अंग्रेजी नाम भी थे, कोई थे बंगलाके बायरन तो कोई एमर्सन, और कोई कुछ तो कोई कुछ। मुझे उस समय किसी-किसीने 'शेली' कहना शुरू कर दिया था, जो कि शेलीके लिए अपमान-स्वरूप और मेरे लिए उपहास-स्वरूप था। तब मैं 'कल-भाषाका कवि' कहलाता था। तब विद्या भी नहीं थी, जीवनका अनुभव भी कम था, इसीसे गद्य-पद्य जो भी कुछ लिखता था उसमें वस्तु जितनी होती थी, भावुकता होती उससे कहीं ज्यादा, लिहाजा उसे अच्छा भले ही कह दिया जाय, किन्तु जोरके साथ उसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती थी। तब मेरे पहनाव-उढ़ाव और व्यवहारमें भी अर्धस्फुटताका परिचय काफी था, बाल थे बड़े-बड़े, और हाव-भावमें कवित्वकी एक तुरीय ढगकी शौकीनी प्रकट होती थी, कुछ निरालापन-सा आ गया था, अर्थात् सहज-स्वाभाविक मनुष्यके

प्रचलित प्रचलित आचार-आचरणमें प्रवेश करके सबके साथ सुसंगत नहीं हो पाया था।

इसी समय अक्षयचन्द्र सरकारने 'नवजीवन' मासिकपत्र निकाला, और उसमें मेरी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। (सं० १९४१)

बंकिम बाबू तब 'धर्म-दर्शन'का अध्याय खतम करके धर्मालोचनामें प्रवृत्त हुए थे। 'प्रचार' निकल रहा था। 'प्रचार'में मेरा एक गीत ('मथुरामें') और किसी वैष्णव-पदके आधारपर लिखा-गया एक गद्य-भावोच्छ्वास प्रकाशित हुआ था।

इस समय अथवा इससे कुछ दिन पहलेसे मैंने बंकिम बाबूके पास फिर एक बार जाना-आना शुरू किया। तब वे भवानीचरण दत्त स्ट्रीटमें रहते थे।

बंकिम बाबूके पास मैं जाता जरूर था, किन्तु ज्यादा-कुछ बातचीत नहीं होती थी। मेरी तब सुननेकी उमर थी, बोलनेकी नहीं। जी तो चाहता कि वार्तालाप जमाऊं, लेकिन संकोचके मारे बात नहीं निकलती थी। किसी-किसी दिन देखता कि उनके अग्रज संजीव बाबू तकियेके सहारे लेटे हुए हैं। उन्हें देखकर मैं बड़ा खुश होता। गपशप जमानेमें वे सिद्धहस्त थे। गपशप करनेमें खुद उन्हें भी आनन्द आता और उनके मुहसे सुननेमें सुननेवालेको भी आनन्द मिलता। जिन्होंने उनके लेख पढ़े हैं उन्होंने जरूर लक्ष्य किया होगा कि वे लेख बात करनेके भरपूर आनन्दके वेगमें ही लिखे गये हैं, यानी छापेके अक्षरोंसे मजलिस जमाई गई है। ऐसी शक्ति बहुत कम लोगोंमें होती है, उसपर उन मुहकी बातोंको लेखमें उसी तरह जमा देनेकी शक्ति और-भी कम लोगोंमें पाई जाती है।

इसी समय कलकत्तामें पंडित शशधर तर्क-चूडामणिका अभ्युदय हुआ। बंकिम बाबूके मुहसे ही मैंने पहले-पहल इनकी बात सुनी। मेरा खयाल है, पहले पहल बंकिम बाबूने ही साधारण लोगोंमें इनके परिचयका सूत्रपात कर दिया था। उन दिनों हिन्दू-धर्म सहसा पाश्चात्य विज्ञानकी साक्षी दिलाकर अपने कौलीन्यको प्रमाणित करनेकी अद्भुत चेष्टा करने लगा था और वह चेष्टा देखते-देखते चारों ओर फैल भी गई। इसके पहले लम्बे अरसेसे थियोसॉफीने ही हमारे देशमें इस आन्दोलनकी भूमिका तैयार कर रखी थी।

असलमें, बंकिम बाबू इसके साथ पूरा सहयोग दे सके हों— ऐसा नहीं कहा

जा सकता। अपने 'प्रचार' पत्रमें वे जो धर्मकी व्याख्या कर रहे थे उसपर तर्क-चूड़ामणिजीकी छाया नही पड़ी थी, कारण यह बिलकुल ही असम्भव था।

मैं तब अपना घरका कोना छोडकर कुछ-कुछ बाहर निकल रहा था, तबके इस आन्दोलन-कालके मेरे लेखोंमें इसका परिचय मौजूद हैं। ये रचनाएँ तब व्यंग-काव्य कौतुक-नाट्य और 'सजीवनी' पत्रिकामें पत्रके रूपमें निकली थी। मैंने तब भावावेशका मायाजाल तोड़कर मल्लभूमिमें आकर ताल ठोंकना शुरू कर दिया था।

इस लड़ाईकी उत्तेजनामें बंकिम बाबूके साथ भी मेरा कुछ विरोध पैदा हो गया था। उस समयकी 'भारती' और 'प्रचार' में इसका इतिहास मौजूद है, उसकी विस्तृत आलोचना यहाँ अनावश्यक है। इस विरोधके अवसानपर बंकिम बाबूने मुझे एक पत्र लिखा था, मेरे दुर्भाग्यसे वह खो गया। अगर होता तो पाठक जान जाते कि बंकिम बाबूने कैसी परिपूर्ण क्षमताके साथ उस विरोधके काँटेको उखाड़ फेंका था।

जहाजका ढाँचा

अखबारमें एक विज्ञापन पढकर एक दिन दोपहरको ज्योति-दादा सीधे नीलाममें चले गये, और वापस आकर खबर दी कि उन्होंने सात हजार रुपयेमें जहाजका एक ढाँचा खरीदा है। अब, उसमें इंजन लगाकर कमरे बनाकर एक पूरा जहाज बनाना है।

देशके लोग कलम चलाते हैं, रसना चलाते है, किन्तु जहाज नही चलाते, उनके मनमें शायद इसी बातका क्षोभ था। उन्होंने एक दिन देशमें दियासलाई जलानेकी कोशिश की थी, और वह बहुत-बहुत घिसनेपर भी जली नही थी। देश में कपड़ेकी मिल चलनेका उत्साह भी उनमें कम न था, पर वह मिल मात्र एक अंगोछा प्रसव करके रह गई। उसके बाद स्वदेशी उद्योगसे जहाज चलानेके लिए सहसा उन्होंने एक ढाँचा खरीद डाला; और वह खाली ढाँचा एक दिन सिर्फ इंजन और कमरोंसे ही नही बल्कि ऋण और सर्वनाशसे भर उठा। किन्तु फिर भी

इतना याद रखना होगा कि इन उद्योगोंमें जो नुकसान हुआ उसे अकेले उन्होंने झेला, और जो लाभ हुआ वह निश्चय ही अब तक उनके देशके भाग्यमें जमा है। संसारमें ऐसे ऐतिहासिक अव्यवसायी लोग ही देशके कर्मक्षेत्रमें बार-बार निष्फल अध्यवसायकी बाढ़ लाते रहते हैं, वह बाढ़ अचानक आती और अचानक चली जाती है, किन्तु वह वर्षाके स्रोत-जलमें जो रेत-मिट्टी छोड़ जाती है वही देशकी मिट्टीमें उर्वरताको सजीव बनाये रखती है। उसके बाद जब फसलके दिन आते हैं तब उनके त्यागको लोग भूल जाते हैं। किन्तु जीवन-भर जो इस तरहकी हानि उठाते रहते हैं, मृत्युके बादकी इस हानिको भी वे अनायास स्वीकार कर सकते हैं।

एक तरफ 'फ्लोटिलाकी कम्पनी'[1] और दूसरी तरफ उनके मुकाबलेमें वे अकेले, इन दोनों पक्षोंका वाणिज्य-नौयुद्ध क्रमशः कैसा प्रचण्ड हो उठा था, खुलना और बरीसालके लोग अब भी शायद उसकी याद कर सकते हैं। प्रतियोगिताकी ताड़ना में जहाजपर जहाज[2] बनते गये, नुकसानपर नुकसान बढ़ता गया, और आमदनीके आँकड़े क्रमशः क्षीण होते गये और अन्तमें उसने टिकटका प्रचलन भी उठा दिया। बरीसाल-खुलना स्टीमर-लाइनमें सत्ययुगका आविर्भाव हो गया। यात्री लोग केवल बिना-किरायेके ही सफर करने लगे हों, इतना ही नहीं, ऊपरसे बिना-मूल्य मिष्टान्न भी खाने लगे। इसके सिवा बरीसालके स्वयंसेवक-दल स्वदेशी-कीर्तन गाते-हुए कमर कसके यात्री-संग्रहमें जुट पड़े, लिहाजा यात्रियोंका कोई अभाव नहीं रहा, किन्तु और सब तरहका अभाव उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। गणित शास्त्रमें देश-हितैषिताके उत्साहको प्रवेश-पथ नहीं मिलता, कीर्तन चाहे जितना ही क्यों न जमे, उत्तेजना चाहे कितनी ही क्यों न बढ़े, गणितने अपना दुर्धर-हठ नहीं छोड़ा, लिहाजा उसका 'तीन-तिया नौ' ठीक तालसे तिनतीकी तरह बढ़ता हुआ कर्जका रास्ता तय करने लगा।

अव्यवसायी भावुक लोगोंके भाग्याकाशमें एक कुग्रह यह होता है कि लोग उन्हें

---

१ पहले 'फ्लोटिला कम्पनी', बादमें उसे नुकसान होनेपर 'होरमिलर कम्पनी'।

२ सन् १८८४ में प्रथम जहाज 'सरोजिनी' से काम शुरू हुआ, फिर क्रमशः 'भारत', 'लार्ड रिपन', 'बंगलक्ष्मी' और 'स्वदेशी' नामके जहाज बने।

बड़ी आसानीसे ताड लेते है, पर वे खुद किसीको नही पहचान सकते। और इससे भी बढ़कर मजा यह कि इतनी-सी बात सीखनेमें कि वे उन्हें नहीं पहचान पाते, उनका काफी खर्च हो जाता है और उसमें भी ज्यादा हो जाता है विलम्ब, और उस शिक्षाको काममें लानेका अवसर उन्हें फिर इस जीवनमें नही मिलता। यात्री लोग जब कि फोकटमें मिठाई खा रहे थे,ज्योति-दादाके कर्मचारी तब तपस्वियोंके समान उपवास करते हों– ऐसा भी कोई लक्षण देखनेमें नही आया। जहाँ यात्रियोंके लिए जल-पानकी व्यवस्था थी वहाँ कर्मचारीवृन्द भी वंचित नही रहे, किन्तु सबसे महत्तर लाभ रहा ज्योति-दादाको, वह यह कि उनका सर्वस्व जाता रहा।

प्रतिदिनकी इस हार-जीतकी खबर-चर्चामें हमारी उत्तेजनाका अन्त नही था। अन्तमें एक दिन खबर आई कि उनका 'स्वदेशी' नामका जहाज हवड़ा-पुलसे टकराकर डूब गया। इस तरह जब वे अपने सामर्थ्यकी सीमा पूरी तरह लाँघ चुके, और अपने लिए उन्होंने कुछ भी बाकी नही रखा, तभी उनका व्यवसाय बन्द हुआ।

मृत्युशोक

इस बीचमें घरमें एकके बाद एक कई मौतें हो गई थी। इसके पहले मैंने कभी मृत्युको प्रत्यक्ष नही देखा था। माकी जब मृत्यु हुई थी तब (सं० १९३१में) मैं बहुत छोटा था। बहुत दिनोंसे वे बीमार थी, और कब उनका जीवन-संकट उपस्थित हुआ, मैं जान भी नही पाया। अब तक जिस कमरेमें हमलोग सोते थे, उसी कमरेमें अलग विस्तरपर मा सोती थी। किन्तु उनकी बीमारीके दिनोंमें एक बार कुछ दिनोंके लिए उन्हें वोटमें घुमाने ले जाया गया था, उसके बाद घर आई तो वे अन्त.पुरमें तीसरी मंजिलमें रहने लगी। जिस रातको उनकी मृत्यु हुई, हमलोग तब सो रहे थे। तब कितनी रात हुई होगी, मालूम नहीं। एक पुरानी दासी हमारे कमरेमें दौड़ी आई, और चीखकर रो उठी, "अरे, तुम्हारा सर्वस्व चला गया रे!" भाभी-रानी (ज्योति-दादाकी पत्नी कादम्बरी देवी) उसी वक्त उसे डाट-डपटकर कमरेसे खीच ले गईं। उन्हें आशका थी कि गहरी रातको अचानक

यही हमारे मनको गहरी चोट न पहुँचे। स्तिमित प्रदीपके अस्पष्ट आलोकमें मैं क्षण-भरके लिए जागकर उठ बैठा, हृदय दहल-सा गया, किन्तु क्या हुआ सो अच्छी तरह समझ ही न सका। सवेरे उठकर जब माका मृत्युसंवाद सुना तब भी उस बातका पूरा अर्थ ग्रहण न कर सका। बाहरके बरंडेमें जाकर देखा कि माका सुसज्जित शरीर आँगनमें खाटपर सुलाया हुआ है। किन्तु मृत्यु कैसी भयंकर होती है, उनके शरीरमें इसका कोई प्रमाण नहीं था। उस दिन प्रभातके प्रकाशमें मृत्युका जो रूप देखा यह सुख-सुप्तिके समान ही प्रशान्त और मनोहर था। जीवनसे जीवनान्तरका विच्छेद स्पष्ट देखनेमें नहीं आया। सिर्फ जब उनका शरीर उठाकर मकानके प्रवेश-द्वारसे बाहर ले जाया गया और हम-सब उनके पीछे-पीछे श्मशानको चल दिये तब शोककी आँधीने मानो सहसा एक जबरदस्त झटका देकर मनके भीतर प्रवेश किया और ऐसा एक हाहाकार मचा दिया कि मैं समझ गया 'इस दरवाजेसे मा अब कभी भी अपनी इस चिर-जीवनकी घर-गृहस्थीमें अपना आसन ग्रहण करनेके लिए नहीं लौटेंगी।' दोपहर हो गया, श्मशानसे घर लौटे। गलीकी मोड़पर आकर तीसरी मंजिलपर पिताजीके कमरेकी तरफ देखा, पिताजी सामनेके बरंडेमें स्तब्ध बैठे उपासना कर रहे थे।

घरकी जो छोटी बहू थी (कादम्बरी देवी) उन्होंने मातृहीन बालकोंका भार ग्रहण किया। वे ही हमलोगोंको खिला-पिलाकर पहना-उढ़ाकर सर्वदा अपने पास रखने लगीं। अहोरात्र उनकी यही कोशिश रहती कि किसी भी तरह हमें यह महसूस न हो कि हमारा कुछ जाता रहा है। जिस क्षतिकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती, जिस विच्छेदका कोई प्रतिकार नहीं, उसे भूलनेकी शक्ति प्राणशक्तिका एक प्रधान अंग है, और बचपनमें वह प्राणशक्ति नवीन और प्रबल रहती है, तब वह किसी भी आघातको गहराईके साथ ग्रहण नहीं करती, उसकी कोई स्थायी रेखा अंकित करके नहीं रखती। इसीलिए, जिस मृत्युने मेरे जीवनमें काली छाया डाल कर प्रवेश किया था उसने अपनी कालिमाको चिरस्थायी न बनाकर छायाकी तरह ही एकदिन चुपचाप प्रस्थान किया। इसके बाद और-कुछ बड़ा होकर जब वसन्तके प्रभातमें बगीचेसे मुट्ठी-मुट्ठी-भर बड़े-बड़े बेला तोड़कर चादरके छोरमें बाँधकर पागलकी तरह घूमता रहता, तब उन कोमल गुलगुले फूलोंको ललाटपर फेरते हुए

माकी शुभ्र उंगलियोंका स्मरण हो आता। मै स्पष्ट अनुभव करता कि जो स्पर्श उन सुन्दर उंगलियोंके पोरुओंमें था वही स्पर्श प्रतिदिन इन फूलोंमें निर्मल होकर खिल उठता है, संसारमें उनका अन्त नही,– फिर चाहे हम उन्हें भूल जायें या याद रखें।

किन्तु मेरी छब्बीस वर्षकी उमरमें मृत्युके[1] साथ जो मेरा परिचय हुआ वह स्थायी परिचय था। वह अपने बादके प्रत्येक विच्छेद-शोकके साथ मिलकर आँसुओं की लम्बी माला गूंथता चला जा रहा था। बाल्यावस्थाका लघुजीवन बडी-बड़ी मृत्युको आसानीसे कतराकर दौड़ता हुआ निकल जाता है, किन्तु ज्यादा उमरमें मृत्युको इतनी आसानीसे धोखा देकर निकल भागनेका रास्ता पाना मुश्किल है। इसीसे उस दिनके सम्पूर्ण दुःसह आघातको छाती पसारकर झेलना पड़ा था।

जीवनमें जरा भी कहीं कोई छेद है– इस बातको तब मै जानता ही न था, तब सब-कुछ मानो हँसने-रोनेके ताने-बानेसे गफ बुना हुआ मालूम होता था। उस बुनावटमेंसे बाहरका और-कुछ दिखाई नहीं देता था इसीसे उसे चरम-रूपमें ग्रहण कर लिया था। इतनेमें न-जाने कहाँसे इस मृत्युने आकर अत्यन्त प्रत्यक्ष जीवनके एक प्रान्तमें क्षणमात्रमें छेद कर दिया, तब मै सहसा कैसा-तो हक्कावक्का-सा हो गया। सोचने लगा, यह क्या, यह कैसा गोरखधन्धा! चारों तरफके पेड़-पौधे जमीन-आसमान सूर्य-चन्द्र ग्रह-नक्षत्र ज्योंके त्यों निश्चिन्त सत्यके रूपमें विराज रहे हैं– यहाँ तक कि देह-प्राण-हृदय-मनके हजारों तरहके स्पर्शसे जिसे मै अपने सब-कुछसे अधिक सत्य-रूपमें अनुभव करता था वह निकटका मनुष्य जब इतनी आसानीसे क्षणमात्रमें स्वप्नकी तरह बिला गया, तब मुझे, समस्त जगतकी ओर देखकर ऐसा लगने लगा कि यह कैसा अद्भुत आत्म-खण्डन! जो है और जो नहीं रहा – इन दोनोंमें आखिर मेल कैसे बिठाया जाय?

जीवनके इस रन्ध्रके भीतरसे यह जो एक अतलस्पर्श अन्धकार प्रकट हुआ वह मुझे दिन-रात आकर्षित करने लगा। घूम-फिरकर बार-बार मैं वहीं आकर खड़ा होता, उसी अन्धकारकी ओर देखता रहता और ढूंढ़ता रहता कि 'जो चला गया

---

[1] कादम्बरी देवीकी मृत्यु। (वैशाख, १२९१)

उसके बदलेमें रहा क्या ?' शून्यताको मनुष्य किसी भी तरह हृदयसे विश्वास नहीं कर सकता। जो नहीं है वही मिथ्या है, और जो मिथ्या है वह नहीं है। इसीलिए जो देख नहीं रहा उसीमें देखनेकी चेष्टा, जो मिल नहीं रहा उसीमें पानेकी आशा किसी भी तरह रुकना नहीं चाहती। पौधेको अन्धकारपूर्ण घेरेमें घेर रखनेसे वह जैसे अपनी सम्पूर्ण चेष्टासे उस अन्धकारको किसी कदर लांघकर आलोकमें मुह उठानेके लिए पांवकी उंगलियोंके बल यथासम्भव उचककर खड़ा होना चहता है, ठीक उसी तरह, मृत्युने जब मनके चारों तरफ सहसा एक 'नहीं है'-अन्धकारकी दीवार खड़ी कर दी तब सम्पूर्ण प्राण-मन अहोरात्र दु:साध्य चेष्टासे उसके भीतरसे बार-बार 'है'-आलोकमें निकलनेके लिए उचक-उचककर खड़ा होने लगा। किन्तु उस अन्धकारको पार करनेका रास्ता अन्धकारमें जब दिखाई ही नहीं दे, तब फिर, उसके समान दु:ख और क्या हो सकता है !

फिर भी, इस दु सह दु:खके भीतरसे मेरे मनमें क्षण-क्षणमें एक आकस्मिक आनन्दकी हवा बहने लगी। इससे मुझे बड़ा आश्चर्य होता। 'जीवन बिलकुल अविचलित निश्चित नहीं'– इस दु:खके संवादसे ही मनका भार हलका हो गया। और यह सोचकर कि 'हम निश्चल सत्यकी पत्थरकी बनी चहारदीवारीमें हमेशाके लिए कैदी नहीं', मैं भीतर ही-भीतर उल्लासका अनुभव करने लगा। जिसे पकड़ा था उसे छोड़ना ही पड़ा– इस क्षतिकी तरफ देखकर जैसे वेदना हुई वैसे ही उसी क्षण उसकी मुक्तिकी तरफ देखकर एक उदार शान्तिका भी अनुभव किया। संसार का विश्वव्यापी अति-विपुल भार जीवन-मृत्युके हरण-पूरणसे अपने आपको सहज ही में नियमित करके चारों तरफ बराबर प्रवाहित होता चला आ रहा है, वह भार रुककर किसीको भी कहीं दबाकर नहीं रखेगा–किसीको भी एकेश्वर जीवनका उपद्रव वहन नहीं करना पड़ेगा –इस बातका उस दिन मैंने मानो एक आश्चर्यमय नूतन सत्यकी भांति जीवनमें पहले-पहल अनुभव किया था।

उस वैराग्यके भीतरसे प्रकृतिका सौन्दर्य और भी गंभीररूपसे रमणीय हो उठा था। कुछ दिनके लिए जीवनके प्रति मेरी अन्ध-आसक्ति बिलकुल ही दूर हो जानेसे ही, चारों तरफके नीलाकाशके भीतर पेड़-पौधोंकी आन्दोलन-क्रिया मेरी अश्रुधौत आंखोंमें माधुर्य बरसाने लगी। जगतको सम्पूर्ण और सुन्दर-रूपसे

देखनेके लिए जिस दूरत्वका प्रयोजन है, मृत्युने उतना दूरत्व मुझे दे दिया था। मैंने निर्लिप्त खड़े होकर मरणकी विशाल पटभूमिकापर ससारका चित्र देखा और जाना कि वह बड़ा मनोहर है।

उन दिनों, फिर कुछ दिनोंके लिए मेरे मनमें एक विचित्र भाव और बाहर अद्भुत आचरण दिखाई दिया था। ससारके लोक-व्यवहारको बिलकुल सत्य मानकर चलनेमें मुझे हँसी आती थी। उनका मुझपर कोई असर ही नहीं पड़ता था, मानो वे मेरे लिए माया-मरीचिका हो। कुछ दिन तक इस बातकी मुझे बिलकुल ही परवाह नही रही कि मेरे विषयमें कौन क्या खयाल करता होगा। धोतीपर एक मोटी चादर ओढे मैं कितने ही दिन थैकर कम्पनीमें किताब खरीदने गया हूं। खाने पीनेकी व्यवस्था भी बहुलाशमें अस्तव्यस्त हो गई थी। कुछ दिनो तक तो मैं, वर्षा-बादल-शीतमें भी, तीसरी मंजिलके बाहरवाले बरामदेमें सोया करता था। वहाँ आकाशके तारोंके साथ मेरी चार आँखें हो सकती थी, और भोरके प्रकाशके साथ साक्षात होनेमें विलम्ब नही होता था।

मेरी ये-सब क्रियाएँ वैराग्यकी कृच्छ्र-साधना हर्गिज नही थी। यह तो मानो मेरे छुट्टीके दिन थे, संसारके बेंत-धारी गुरुजी जब बिलकुल ही एक धोखाधड़ी-से मालूम हुए तब उनकी पाठशालाके प्रत्येक छोटे-छोटे अनुशासनको न मानकर मैं मुक्तिका स्वाद लेने लगा। किसी दिन सवेरे नीदसे उठते ही यदि देखूं कि पृथ्वीका भाराकर्षण पहलेसे आधा रह गया है, तो फिर क्या सरकारी रास्तेसे सावधानीके साथ चलनेकी इच्छा हो सकती है ? निश्चय ही तब हम हरिसन रोडके चार-चार पाँच-पाँच मंजिलके मकानोंको, बिना कारण ही, छलाँग मार-मारकर पारकर जायँगे, और किलेके मैदानमें हवा खाते समय सामने अगर ऑक्टरलॉनी-मॉनुमेण्ट (मीनार) आ जाय तो जरा-सा कतराकर चलनेकी भी प्रवृत्ति न हो, चटसे उसे लाँघकर पार हो जायँगे। मेरी भी ठीक यही दशा हो गई थी। पाँवोंके नीचेसे जीवनका आकर्षण घटते ही मैंने बँधे रास्तेको लगभग छोड़ ही दिया था।

मकानकी छतपर अकेला बैठा मैं गभीर अन्धकारमें मृत्यु-राजके किसी-एक शिखरपरकी ध्वजाको, उसके काले पत्थरके बने तोरणद्वारपर अंकित किसी एक अक्षर या चिह्नको देखनेके लिए मानो सारी रातपर अन्धेकी तरह दोनो हाथ

फेरता रहता। फिर सबेरे जब मेरे उस घरके बिछे बिस्तरपर भोरका आलोक आकर पड़ता तब आंख खोलते ही देखता कि मेरे मनके चारों तरफका आवरण मानो स्वच्छ होता आ रहा है, कुहरा दूर हो जानेपर पृथ्वीके पर्वत-नदी-अरण्य जैसे झलमल कर उठते हैं वैसे ही जीवन-लोकका फैला-हुआ विशाल चित्रपट भी मेरी आंखोंमें शिशिर-सिक्त नवीन और सुन्दर दिखाई देने लगता।

वर्षा और शरत्

किसी-किसी वर्ष विशेष कोई ग्रह राजा और मंत्रीका पद ग्रहण करता है, पत्राके आरम्भमें ही घनूपति और हैमवर्नीके निभृत आलापसे इसका हमें पता चल जाता है। इसी तरह देखता हूं कि जीवनके एक-एक पर्यायमें एक-एक ऋतु विशेष-रूपसे आधिपत्य ग्रहण किया करती है। अपने बाल्यकालकी ओर जब देखता हूं तो सबसे ज्यादा स्पष्ट दिखाई देते हैं तबके वर्षाके दिन। हवाके जोरसे वर्षाकी बौछारसे बरामदेमें पानी ही पानी हो जाता था, कमरोंके दरवाजे-जंगले बंद हो जाते थे। प्यारी बुढ़ियाको देखता कि बाजारसे साग-सब्जी खरीदकर बगलमें एक बड़ी-सी टोकनी दबाये कीच-कादेमें भीगती हुई घरकी ओर लपकती चली आ रही है, और मैं अकारण लम्बे बरामदेमें प्रबल आनन्दमें दौड़ता फिर रहा हूं। और, याद पड़ता है, स्कूल गया हूं, दरमोंसे घिरे दालानमें हमारी क्लास बैठी है, अपराह्नमें घनघोर मेघोंके स्तूपोंसे आकाश छा गया है, देखते-देखते निबिड़ धारामें वर्षा उतर आई है, रह-रहकर बादल गरज रहे हैं और बिजली तड़क रही है, कोई पगली मानो बिजलीके नाखूनसे आकाशको चीर-फाड़े डाल रही है, हवाके जोरके झोंकोंसे दरमोंका घेरा टूटकर गिरना चाहता है, अंधेरेमें किताबके अक्षर अच्छी तरह दिखाई नहीं देते, गुरुजीने पढ़ाई बन्द कर दी है,— और मैं तब बाहरके आंधी-मेहपर ही अपनी ऊधमबाजी उछल-कूदका भार देकर उस बन्द छुट्टीमें, बेन्चपर बैठा पैर हिलाता हुआ, अपने मनको सम्भव-असम्भव सारी दुनियामें दौड़ कराता रहता था। और भी याद पड़ता है, श्रावणकी गभीर रात्रि है, नींदकी थोड़ी-सी संधिमेंसे घन-वर्षाकी झमझम आवाज मनमें

सुप्तिसे भी निविड़ एक प्रकारका पुलक पैदा कर रही है, ज्यों ही जरा-सी नींद खुलती है, मन-ही-मन प्रार्थना करने लगता कि कल सवेरे भी इस वर्षाका विराम न हो, और बाहर निकलकर देख सकूं कि हमारी गलीमें काफी पानी भर गया है और तालाबके घाटकी एक भी सीढ़ी डूबनेसे नहीं बची।

किन्तु, मैं जिस समयकी बात कह रहा हूं उस समयकी ओर देखता हूं तो दिखाई देता है शरद्-ऋतु उस समय सिंहासनपर अधिकार जमाये बैठी है। तबका जीवन आश्विनके विस्तीर्ण स्वच्छ आकाशके बीच दिखाई देता है, और ओससे झलमलाती हुई सरस हरियालीपर स्वर्ण-विगलित धूपमें याद पड़ता है दक्षिणके बरंडेमें गीत रचकर और उसमें जोगिया-सुर जोड़कर गुनगुनाता फिरता हू, उस शरत्के उस प्रभातमें :—

"आजि शरत-तपने प्रभात-स्वपने
की जानि पराण की जे चाय।"[१]

दिन चढ़ता जा रहा है, ड्योढ़ीके घड़ियालमें मध्याह्नका घंटा बज गया। और उस मध्याह्नके गानके आवेशमें सम्पूर्ण हृदय-मन उन्मत्त-सा हो रहा है, काम-काजकी किसी भी बातपर जरा भी ध्यान नहीं दे रहा, और यह भी शरतका ही एक दिन था। —

"हेला-फेला सारा बेला
ए की खेला आपन मने!"[२]

याद पड़ता है, एक दिन दोपहरको कोनेवाले कमरेमें जाजिमपर बैठा तसवीर बनानेकी कापी लेकर तसवीर बना रहा था। चित्रकलाकी कठोर साधना नहीं थी वह, मात्र तसवीर बनानेकी इच्छाके साथ मन-ही-मनका खेल था। जितना भी कुछ मनमें आकर रुक गया, कुछ आँका नहीं गया, उतना ही था उसका प्रधान

---

१ शब्दार्थ :—'आज शरत-तपनमें प्रभात-स्वप्नमें
क्या जाने हृदय क्या चाहता है!'

२ शब्दार्थ :— लीला - क्रीड़ा सारे दिन,
यह कैसा खेल अपने मनमें।

अंश। इधर उस कार्यशून्य शरत-मध्याह्नकी सुनहली रंगकी एक मादकता दीवार भेदकर कलकत्ता-शहरके उस मामूली-से एक छोटे-से कमरेको प्यालेकी तरह नीचेसे ऊपर तक भरे दे रही है। मालूम नहीं क्यों, अपने उस समयके जीवनके दिनोंको मैं जिस आकाश और जिस आलोकमें देख रहा हूं वह इस शरत्का ही आकाश है, शरत्का ही आलोक है। किसानोंके लिए जैसे वह धान पकानेवाला शरत् है वैसे ही मेरे लिए वह गान पकानेवाला शरत् है। मेरे लिए वह दिन-भरके आलोकमय अवकाशका भण्डार-भरा शरत् है, मेरे बन्धनहीन मनमें वह अकारण पुलक लाकर चित्रांकन-करानेवाला कहानी बनानेवाला शरत् है।

उस बाल्यकालकी वर्षा और इस यौवनकालके शरत्के बीच एक प्रभेद यह देख रहा हूं कि उन वर्षाके दिनोंमें बाहरकी प्रकृति ही अत्यन्त निविड़ होकर मुझे घेरे हुए खड़ी है, वह अपने सम्पूर्ण दल-बल साज-सज्जा और गाजे-बाजेके साथ महा समारोहसे मेरा साथ दे रही है, और इस शरत्कालके मधुर उज्ज्वल आलोकमें जो उत्सव हो रहा है वह मनुष्यका उत्सव है। मेघ और धूपकी लीलाको पीछे छोड़कर सुख-दुःखका आन्दोलन मर्मरित हो उठा है, नील आकाशके ऊपर मनुष्य की अनिमेष दृष्टिके आवेशने एक रंग चढ़ा दिया है, और हवाके साथ मनुष्यके हृदयकी आकांक्षाका वेग निःश्वसित होकर बह रहा है।

मेरी कविता अब मनुष्यके द्वारपर आकर खड़ी हो गई है। यहां तो बिलकुल अबारित प्रवेशकी व्यवस्था नहीं है, महलके बाद महल, विभागके बाद विभाग, द्वारके बाद द्वार हैं। कितनी ही बार पथपर खड़े-खड़े केवल वातायनके भीतरका दीपालोक मात्र देखकर ही लौट आना पड़ता है, शहनाईकी बांसुरीमें भैरवीकी तान सुदूर प्रासादके सिंहद्वारसे कानमें आकर प्रवेश करती है। मनके साथ मनका समझौता, इच्छाके साथ इच्छाका हिसाब-किताब, न-जाने कितनी टेढ़ी-तिरछी बाधाओंमेंसे लेन-देन चला करता है। उन सब बाधाओंसे टकराते-टकराते जीवनकी निर्झरधारा अपने मुखरित उच्छ्वाससे हास्य-क्रन्दनका फेन उठा-उठाकर नृत्य करती रहती है, उसके सामने पद-पदपर आवर्त घूम-घूम उठता है और उसकी गति-विधिका कोई निश्चित हिसाब नहीं मिलता।

'तीव्र और कोमल'का कविता-गान मनुष्यके उसी जीवन-निकेतनके सामनेवाले

रास्तेपर खड़े होकर गाया-हुआ गान है। और यह उस रहस्य-सभामें प्रवेश करके आसन पानेके लिए पुकार है। —

"मरिते चाहि ना आमि सुन्दर भुवने,
मानुषेर माझे आमि बाँचिवारे चाई।"[१]

विश्व-जीवनके आगे क्षुद्र जीवनका यह आत्म-दान है।

आशुतोष चौधरी

दूसरी बार विलायत जानेके लिए जब घरसे चला[२] तब आशुतोषके[३] साथ जहाजमें मेरा पहला परिचय हुआ। वे कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें एम०ए० पास करके कैम्ब्रिजमें डिग्री लेकर बैरिस्टर होने जा रहे थे। कलकत्तासे मद्रास तक मात्र कई-एक दिन हमलोग जहाजमें एकसाथ थे। किन्तु देखा गया कि परिचयकी गहराई दिनोंकी गिनतीपर निर्भर नहीं करती। अपनी सहज सहृदयतासे अत्यन्त थोड़े समयमें ही उन्होंने इस तरह मेरा चित्त जीत लिया कि पहले उनके साथ जो जान-पहचान नहीं थी उसकी दरार भी उन्होंने नहीं रहने दी।

जब वे विलायतसे लौट आये तो उनके साथ हमलोगोंका एक रिश्ता कायम हो गया।[४] और तब तक बैरिस्टरी व्यवसायके व्यूहमें घुसकर 'लॉ'में लीन होनेकी उमर नहीं हुई थी और मुवक्किलोंकी सिकुड़ी-हुई थैलियोंने पूर्ण-विकसित होकर स्वर्णकोष उन्मुक्त भी नहीं किया था। तब वे साहित्य-उपवनमें मधु-संचय करनेमें ही उत्साहित होकर घूमा-फिरा करते थे। और मैं तब स्पष्ट रूपसे देखता कि साहित्यकी भावुकता बिलकुल ही उनकी प्रकृतिमें परिव्याप्त हो गई है। उनके

---

१ शब्दार्थः—मरना चाहता नहीं मैं सुन्दर भुवनमें,
मानवके बीच में जीना ही चाहता हूं।

२ बैसाख १९३८ में। ३ सर आशुतोष चौधरी (सन् १८६०-१९२४)

४ कविकी भतीजी, हेमेन्द्रनाथकी कन्या-प्रतिभा देवीके साथ उनका विवाह हुआ था।

मनके भीतर जो साहित्यकी हवा बहती रहती थी उसमें लाइब्रेरी-अलमारियोंकी भरती-धमड़ेकी गन्ध मतई नहीं थी। उस हवामें समुद्र-पारके अपरिचित निकुंजके नाना पुष्पोंका निश्वास एकत्र होकर मिलता था, वार्तालाप करते-करते हमलोग मानो किसी सुदूर वनके प्रान्तमें जाकर वसन्तके दिनोंमें वन-भोजनका आनन्द लेने लगते।

फ्रान्सीसी काव्य-साहित्यके रसमें उनका विशेष विलास था। मैं तब 'तीव्र और कोमल'की कविताएँ लिख रहा था। मेरी उन-सब कविताओंमें उन्हें किसी किसी फ्रान्सीसी कविके भावोंका मेल दिखाई देता था। उन्हें ऐसा लगा था कि 'तीव्र और कोमल' ('कड़ि ओ कोमल')की कविताओंमेंसे नाना रूपमें यही बात प्रगट हो रही है कि 'मानव-जीवनकी विचित्र रसलीला कविके मनको एकान्त रूपसे आकर्षित कर रही है।' और इस जीवनमें प्रवेश करने और उसे सब तरफसे ग्रहण करनेके लिए एक अपरितृप्त आकांक्षा' ही इन कविताओंकी मूल बात है।

आशुतोषने कहा, "तुम्हारी इन कविताओंको यथोचित पर्यायमें सजाकर मैं ही प्रकाशित करूंगा।" उन्हींपर प्रकाशनका भार दिया गया था। 'मरिते चाहि ना आमि सुन्दर भुवने'—इस चतुर्दशपदी कविताको उन्होंने सबसे पहले स्थान दिया। उनका मत था कि 'इसी कवितामें सम्पूर्ण रचनाकी मर्म-वार्ता है।'

होना असम्भव नहीं। बाल्यकालमें जब मैं घरमें बन्द रहा करता था तब अन्तःपुरकी छतकी दीवारके छिद्रोंमेंसे बाहरकी विचित्र दुनियाकी तरफ अपनी उत्सुक-दृष्टिमें मैंने अपना हृदय खोल दिया है। यौवनके आरम्भमें मनुष्यके जीवन-लोकने मुझे उसी तरह आकर्षित किया है। उसमें भी मेरा प्रवेश नहीं था, बाहर एक किनारेसे खड़ा था। पार उतारनेवाली खेया-नाव मानो पाल चढ़ाकर लहरों ऊपरसे पार जा रही हो, और तटपर खड़ा हुआ मेरा मन मानो उसके माझीको हाथके इशारेसे बुला रहा हो। जीवन जो जीवन-यात्रामें निकल पड़ना चाहता था।

'तीव्र और कोमल'

जीवन-समुद्रमें कूद पड़नेके लिए हमारी सामाजिक अवस्थाकी विशेषताके कारण कोई बाधा थी और उसके लिए मैं पीड़ा अनुभव कर रहा था – यह बात सत्य नहीं है। हमारे देशमें जो लोग समाजके बीचमें पड़े हुए हैं वे ही चारों तरफसे प्राणोंका प्रबल वेग अनुभव करते हों – ऐसा भी कोई लक्षण देखनेमें नहीं आता। चारों तरफ घाट हैं और घाट भी। काले जलपर प्राचीन वनस्पतिकी शीतल काली छाया आकर पड़ी है, स्निग्ध पल्लवराशिमें प्रच्छन्न रहकर कोकिल पुरातन पंचम-स्वरमें बोल रही है,– किन्तु यह तो बँधा-हुआ तालाब है, यहाँ स्रोत कहाँ है, लहरें कहाँ हैं, समुद्रकी वड़वाग्निके उफानकी बाढ़ यहाँ कब आती है? मनुष्यके मुक्त-जीवनका प्रवाह जहाँ पत्थरको चीरता हुआ, जयध्वनिके साथ लहरोंपर लहरें उठाता हुआ, अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे सागर-यात्राके लिए चल पड़ा है, उसके जलोच्छ्वासका गर्जन क्या मेरी इस गलीके उस पारके प्रतिवेशी-समाजसे ही मेरे कानोंमें आकर पहुच रहा था? कदापि नहीं। जहाँ जीवनका उत्सव हो रहा है वहाँका प्रबल सुख-दु.खका निमंत्रण पानेके लिए अकेले घरका हृदय रोता रहता है।

जिस मृदु निश्चेष्टताके बीच मनुष्य मध्याह्न-तंद्रामें बार-बार ढुल-ढुल पड़ता है वहाँ मनुष्यका जीवन अपने पूर्ण-परिचयसे वंचित रहनेके कारण ही उसे इस तरहका एक अवसाद आकर घेर लिया करता है। उस अवसादकी जड़तामेंसे बाहर निकल आनेके लिए मैं चिरकालसे वेदना अनुभव करता आया हूं। उस समय जितनी भी आत्मशक्ति-हीन राजनीतिक सभा-समितियों और समाचारपत्रोंका आन्दोलन प्रचलित हुआ था, देशके परिचय-हीन और सेवा-विमुख जिस देशानुरागकी मृदु मादकताने उन दिनों शिक्षित-मण्डलीमें प्रवेश किया था, मेरा मन किसी भी कदर उसका समर्थन नहीं करता था। अपने सम्बन्धमें और अपने चारों तरफके सम्बन्ध में बड़ा-भारी एक अधैर्य और असन्तोष मुझे क्षुब्ध कर दिया करता था। और मेरा हृदय कहता था, 'इससे तो अच्छा, होता अगर अरबका डाकू!'

"आनन्दमयीर आगमने
आनन्दे गियेछे देश छेये,

हेरो ओइ धनीर दुआरे,
दाँड़ाइया कांगालिनीर मेये।"

यह तो मेरी अपनी ही बात है। जिन समाजोंमें ऐश्वर्यशाली स्वाधीन जीवनका उत्सव है वहाँ शहनाई बजने लगी है, वहाँ यातायातके कलरवका अन्त नहीं। हम तो बाहरके प्राङ्गणमें खड़े-खड़े लुब्धदृष्टिसे मुह ताक रहे हैं केवल। सजधजकर शामिल कहाँ हो सके हम?

मनुष्यके बृहत् जीवनको विचित्ररूपसे अपने जीवनमें उपलब्धि करनेकी व्यथित आकांक्षा – यह तो उसी देशमें सम्भव है जहाँ सब-कुछ विच्छिन्न और छोटी छोटी सीमाओंमें आबद्ध है। मैंने जैसे अपने भृत्यके हाथकी खिंची-हुई खड़िया मट्टीकी लकीरके भीतर बैठकर मन-ही-मन उदार पृथ्वीके उन्मुक्त खेलघरकी कामना की है, यौवनके दिनोंमें भी मेरे निभृत हृदयने भी ठीक उसी तरह, वेदनाके साथ ही, मनुष्यके विराट हृदय-लोककी ओर अपने हाथ बढाये हैं। वह जो दुर्लभ है, वह जो दुर्गम दूरवर्ती है! किन्तु उसके साथ हृदयके योगको यदि न बाँध सका, वहाँसे हवा भी यदि न आवे और स्रोत भी न बहे, पथिकका अव्याहत यातायात भी न चले, तो, जो-कुछ जीर्ण है पुरातन है वही नूतनका मार्ग रोके पड़ा रहता है, तब फिर मृत्युके भग्नावशेषको कोई हटाता नहीं, और वह बार-बार लगातार जीवनके ऊपर चढ़-चढ़कर, पड़-पड़कर, उसे आच्छन्न कर डालता है।

वर्षाके दिनोंमें केवल घनघटा और वर्षण होता है। शरत्के दिनोंमें मेघ और धूपका खेल है, किन्तु वह आकाशको ढकता नहीं, और दूसरी ओर खेतोंमें फसल फलती है। इसी तरह मेरे काव्य-लोकमें जब वर्षाके दिन थे तब बराबर भावावेगका ही वाष्प और वायु और वर्षण था। तब बिखरे-हुए छन्द थे और अस्पष्ट वाणी। किन्तु शरत्कालके 'तीव्र और कोमल'में आकाशमें केवल मेघके रंग ही नहीं हैं, वहाँ जमीनपर फसल भी दिखाई दे रही है। अब वास्तव-संसारके साथ होनेवाले कारबारमें, छन्द और भाषा नानाप्रकारके रूप धरकर उठनेकी चेष्टा कर रही है।

यहाँ जीवनका एक पर्व समाप्त होता है। जीवनमें अब, घर और परके, अन्तर और बाहरके, मिलने-जुलनेके दिन क्रमशः घनिष्ठ होते आ रहे हैं। अबसे जीवनकी

यात्रा क्रमशः जलसे निकलकर स्थलपथसे लोकालयके भीतरसे जिन भलाई-बुराई और सुख-दुःखकी बन्धुरताके बीच जाकर पहुँचेगी उसे केवल चित्रकी भाँति हलके रूपमें नहीं देखा जा सकता। यहाँ कितना बनना-बिगड़ना टूटना-गढ़ना, कितना जय-पराजय, कितना संघात और सम्मिलन होगा, उसका क्या ठीक है। इन-सब बाधा-विरोध और वक्रताओंके भीतरसे आनन्दमय नैपुण्यके साथ मेरे जीवन-देवता जिस अन्तरतम अभिप्रायको विकासकी ओर लिये जा रहे हैं उसे उद्घाटित करके दिखानेकी शक्ति मुझमें नहीं है। और उस आश्चर्यमय परम रहस्यको ही यदि न दिखाया जा सका, तो और जो भी कुछ दिखाना चाहूँगा उससे पद-पदपर गलत समझाना ही होगा। किसी मूर्तिका विश्लेषण किया जाय तो केवल मिट्टी ही प्राप्त हो सकती है, शिल्पकारका आनन्द उसमें नहीं मिल सकता। अतएव अपने खास-महलके दरवाजेके पास आकर मैं अपने पाठकों से विदा लेता हूँ।

हेरो ओइ धनीर दुआरे,
दाँड़ाइया कांगालिनीर मेये।"

यह तो मेरी अपनी ही बात है। जिन समाजोंमें ऐश्वर्यशाली स्वाधीन जीवनका उत्सव है वहाँ शहनाई बजने लगी है, वहाँ यातायातके कलरवका अन्त नहीं। हम तो बाहरके प्रांगणमें खड़े-खड़े लुब्धदृष्टिसे मुँह ताक रहे हैं केवल। सजधजकर शामिल कहाँ हो सके हम ?

मनुष्यके बृहत् जीवनको विचित्ररूपसे अपने जीवनमें उपलब्धि करनेकी व्यथित आकांक्षा – यह तो उसी देशमें सम्भव है जहाँ सब-कुछ विच्छिन्न और छोटी छोटी सीमाओंमें आबद्ध है। मैंने जैसे अपने भृत्यके हाथकी खिंची-हुई खड़िया मट्टीकी लकीरके भीतर बैठकर मन-ही-मन उदार पृथ्वीके उन्मत्त खेलघरकी कामना की है, यौवनके दिनोंमें भी मेरे निभृत हृदयने भी ठीक उसी तरह, वेदनाके साथ ही, मनुष्यके विराट हृदय-लोककी ओर अपने हाथ बढ़ाये हैं। यह जो दुर्लभ है, यह जो दुर्गम दूरवर्ती है ! किन्तु उसके साथ हृदयके योगको यदि न बाँध सका, वहाँसे हवा भी यदि न आवे और स्रोत भी न बहे, पथिकका अव्याहत यातायात भी न चले, तो, जो-कुछ जीर्ण है पुरातन है वही नूतनका मार्ग रोके पड़ा रहता है, तब फिर मृत्युके भग्नावशेषको कोई हटाता नहीं, और वह बार-बार लगातार जीवनके ऊपर चढ़-चढ़कर, पड़-पड़कर, उसे आच्छन्न कर डालता है।

वर्षाके दिनोंमें केवल घनघटा और वर्षण होता है। शरत्के दिनोंमें मेघ और धूपका खेल है, किन्तु वह आकाशको ढकता नहीं, और दूसरी ओर खेतोंमें फसल फलती है। इसी तरह मेरे काव्य-लोकमें जब वर्षाके दिन थे तब बराबर भावावेगका ही बाष्प और वायु और वर्षण था। तब बिखरे-हुए छन्द थे और अस्पष्ट वाणी। किन्तु शरतकालके 'तीव्र और कोमल'में आकाशमें केवल मेघके रंग ही नहीं हैं, वहाँ जमीनपर फसल भी दिखाई दे रही है। अब वास्तव-संसारके साथ होनेवाले कारबारमें, छन्द और भाषा नानाप्रकारके रूप धरकर उठनेकी चेष्टा कर रही है।

यहाँ जीवनका एक पर्व समाप्त होता है। जीवनमें अब, घर और परके, अन्तर और बाहरके, मिलने-जुलनेके दिन क्रमशः घनिष्ठ होते आ रहे हैं। अबसे जीवनकी

चार जीवनोंकी स्मृतिमें

अपने पितामह पूज्यपाद धनपतरायकी जीवन-स्मृतिमें
जिन्होंने मेरे जन्मके पहलेसे मुझे ज्ञान-दान देनेका प्रण करके
मुझे इस योग्य बनाया कि आज मैं रवीन्द्रनाथकी 'जीवन-स्मृति' अनुवाद कर सका

अपने पूज्य पिता हरदयाल और माता मेवा देवीकी जीवन-स्मृतिमें
जिनके लालन-पालनमें परिपुष्ट मेरा यह शरीर
अब तक रवीन्द्र-साहित्यका अनुवाद पूरा करनेके लिए टिका हुआ है

अपने दौहित्र रवीन्द्रकुमारकी जीवन-स्मृतिमें
जो मुझे, मानो रवीन्द्रनाथका दूत बनकर, मात्र यह कहने आया था कि
'क्यों अपनी अनुवाद करनेकी शक्तिको व्यर्थ खो रहा है? कुछ करके मर!'

इन चारों 'चेता'ओंकी जीवन-स्मृतिमें
रवीन्द्रनाथकी यह 'जीवन-स्मृति'
महाकविका यह आत्म-दर्शन
समर्पित है

—धन्यकुमार जैन